# प्राक्कथन

वेद-रहस्य के इस द्वितीय खण्ड में, जैसा कि प्रथम खण्ड में सूचित किया जा चुका है, श्रीअरविन्द द्वारा 'आर्य' में लिखित उस लेखमाला का अनुवाद है जो Selected Hymns नाम से प्रकाशित हुई थी। पाठक देखेंगे कि इसमें इन्द्र, मरुत, अग्नि आदि एक एक वैदिक देवता को लेकर उसका असली स्वरूप और ठीक ठीक व्यापार सूक्ष्मतापूर्वक स्पष्ट किया गया है और उदाहरण के तौर पर उसके एक चुने हुए सूक्त का अर्थ और भाष्य देते हुए इसे सुस्पष्ट और प्रमाणित किया गया है। वेद का अनुशीलन करनेवाले जानते हैं कि यदि किसी प्रकार वेद के देवताओं का स्वरूप ठीक निर्धारित हो जाय, यह स्पष्टतया प्रत्यक्ष हो जाय, तो वेद का असली तात्पर्य समझना बहुत सरल हो जाय, शायद समझने की आधी से अधिक कठिनाई दूर हो जाय। इस दृष्टि से देखें तो 'वेद-रहस्य' का यह द्वितीय खण्ड प्रथम खण्ड की अपेक्षा भी बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ये लेख १९४४ से १९४७ तक 'अदिति' में भी 'वैदिक सूक्तसुधा' शीर्षक से प्रकाशित होते रहे हैं। पुन संशोधित किये जाकर अब प्रथम बार पुस्तकरूप में पाठकों के सम्मुख है।

इस खण्ड में भी पूर्ववत् विशिष्ट उल्लेखों की एक महत्त्वपूर्ण तालिका तथा मन्त्रसूची दी गयी है।

शेष जो कुछ वक्तव्य है वह प्रथम खण्ड के प्राक्कथन में दिया जा चुका है, सो पाठकों ने पढ़ा ही होगा।

—अभय

## द्वितीय खण्ड

# देवताओं का स्वरूप

# अध्याय-सूची

पहला अध्याय
इन्द्र और अगस्त्य का संवाद ... ... ... १७
दूसरा अध्याय
इन्द्र, दिव्य प्रकाश का प्रदाता ... ... ... २३
तीसरा अध्याय
इन्द्र और विचार-शक्तियां ... ... ... ३६
चौथा अध्याय
अग्नि, प्रकाशपूर्ण संकल्प ... ... ... ५०
पांचवा अध्याय
सूर्य सविता, रचयिता और पोषक ... ... ... ६४
छठा अध्याय
दिव्य उषा ... ... ... ७७
सातवां अध्याय
भग सविता, आनंदोपभोक्ता ... ... ... ८५
आठवां अध्याय
वायु, प्राणशक्तियों का अधिपति ... ... ... ९४
नवां अध्याय
बृहस्पति, आत्मा की शक्ति ... ... ... १०७
दसवां अध्याय
अश्वी देव–आनंद के अधिपति ... ... ... १२२
ग्यारहवां अध्याय
ऋभु–अमरता के शिल्पी ... ... ... १३६
बारहवां अध्याय
विष्णु, विश्वव्यापी देव ... ... ... १४५
तेरहवां अध्याय
सोम, आनन्द व अमरता का अधिपति ... ... ... १५६

## इन अध्यायों के कुछ वचन

देव के राज्य में अपने को सिद्ध किये बिना ही तुम परे पहुँच जाना चाहते हो।

★

जब निम्न सत्ता अपने आपको उत्तरोत्तर दिव्य क्रियाओं के अर्पण करती चलेगी ठीक तभी यह हो सकता है कि मर्त्य की सीमित तथा अहंभाव से परिपूर्ण चेतना जागृत होकर असीम तथा अमरत्व की अवस्था तक, जो कि उसका लक्ष्य है, पहुँच सके।

★

सोमरस रूप से आलंकारिकतया वर्णित, दिव्य सत्ता और दिव्य क्रिया में रहनेवाला जो आनंद है उसकी हमारे अंदर चेतनायुक्त अभिव्यक्ति होने से ही यह होता है कि विशुद्ध प्रकाशमय प्रज्ञा की क्रिया स्थिर हो जाती है और वृद्धिगत होती है।

★

यह नहीं होना चाहिये कि जरा देर के लिये होनेवाली चमकें और चकाचौंध करनेवाली क्षणिक अभिव्यक्तियां हमारे सामने आवें, जो कि हमें अतिक्रमण किये हुए हमारी शक्ति से परे की होने के कारण, सत्य रूप में अपने को व्यक्त करने में अशक्त रहें और हमारे ग्रहणशील मन को गड़बड़ी में डालती रहें।

तो 'आर्य' वह मनुष्य है जो वैदिक क्रिया द्वारा, आन्तर या बाह्य 'कर्म' अथवा 'अपस्' द्वारा, जो कि देवों के प्रति यज्ञरूप होता है, अपने आपको परिपूर्ण करने की इच्छा रखता है।

पर यह 'कर्म' एक यात्रा, एक प्रयाण, एक युद्ध, एक ऊर्ध्वमुख आरोहण के रूप में भी चित्रित किया गया है।

आर्य मनुष्य ऊचाइयों की तरफ जाने का यत्न करता है, अपने प्रयाण में, जो प्रयाण कि एक साथ एक अग्रगति और ऊर्ध्वारोहण दोनों है, सघर्ष करके अपने मार्ग को बनाता है। यही उसका आर्यत्व है।

★

तब आत्मा इन्द्र की शाति में विश्राम पायगी, जो शाति दिव्य प्रकाश के साथ आती है—इन्द्र की शाति अर्थात् उस पूर्णताप्राप्त मनोवृत्ति की शाति जो कि सपरिपूर्ण चेतना और दिव्य आनद की ऊचाइयों पर स्थित है।

क्योकि आन्तरिक सवेदनों में अभिव्यक्त हुआ यही अगाध आनद है जो उस दिव्य परमानद को प्रदान करता है जिससे मनुष्य या देव सबल होते है।

★

क्योकि यह प्रकाश, अपनी सपूर्ण महत्ता की अवस्था में सीमा या बाधा से सर्वथा स्वतत्र यह प्रकाश, आनद का धाम है; यह शक्ति यह है जो मनुष्य के आत्मा को अपना मित्र बना लेती है और इसे युद्ध के बीच में से सुरक्षिततया पार कर देती है, यात्रा की समाप्ति पर, इसकी अभीप्सा के अतिम प्राप्तव्य शिखर पर, पहुचा देती है।

पर उसकी यात्रा, प्रगति जैसा कि क्षुद्रतर शक्तिया पसद करती है वैसे सचालित नहीं होनी चाहिये, बल्कि यह सचालित होनी चाहिये वैसे जैसे कि ऊपर की गुप्त दिव्य प्रज्ञा ने दृष्टतया सकल्पित और निश्चित किया हुआ है।

★

क्योकि सारी ही रचना एक अभिव्यजन है, उच्चारण है, प्रत्येक वस्तु पहले से ही असीम के गुह्य स्थान में विद्यमान है, गुहाहितम्, और वहा वह क्रियाशील चेतना द्वारा केवल व्यक्त रूप में लायी जाती है।

★

लक्ष्य सर्वदा यह है कि हम जहा है वहा से चढ़कर एक उच्चतर स्तर पर पहुच जाय—

और यह उत्थान सर्वदा इसी प्रबल संकल्प से अनुसृत होना चाहिये कि उन सबपर जो विरोध करते हैं तथा मार्ग में रुकावट डालते हैं हमें विजय प्राप्त करनी है।

पर यह होना चाहिये सर्वांगीण उत्थान।

किसी का भी वर्जन नहीं करना है, सबको दिव्य चेतना के विशुद्ध धरातलों तक उठा ले जाना है।

★

मरुतों की शक्ति द्वारा मानवीय स्वभाव के अंदर इन्द्र की शक्ति प्रतिष्ठित होगी और इन्द्र मानवीय स्वभाव को अपनी दिव्य स्थिरता, अपनी दिव्य शक्ति प्रदान करेगा, ताकि यह (मानव स्वभाव) आघातों से लड़खड़ा न जाय या प्रबल क्रियाशीलता की बृहत्तर क्रीड़ा को जो कि हमारी सामान्य क्षमता के मुकाबिले में अत्यधिक महान् है, धारण करने में विफल न हो जाय।

इस प्रकार इन दिव्य शक्तियों की तथा इनकी अभीप्साओं की, समस्वरता में मानवीयता उस प्रेरणा को पा सकेगी जो कि इस जगत् के सहस्रों विरोधों को तोड़फोड़ डालने में पर्याप्त सबल होगी और वह मानवीयता, संघटित व्यक्तित्ववाले व्यक्ति में या जाति में, सत्वर उस लक्ष्य की तरफ प्रवृत्त हो जायगी जिस लक्ष्य की झांकी तो निरंतर मिला करती है पर तो भी जो उस तक के लिये दूरस्थ है जिसे अपने संबंध में यह प्रतीत होने लगा है कि मैंने तो लक्ष्य को लगभग पा ही लिया है।

★

हमारे मनोविकार और धुंधले भावावेग इस अग्नि के ज्वलन का धुंआ है।

यहीं (दिव्य घर) पहुंचाने के लिये अग्नि मनुष्यजाति की अभीप्सा को, आर्य की आत्मा को, विराट् यज्ञ के मूर्धा को ऊपर की तरफ ले जा रहा है।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो वैदिक यज्ञ एक प्रतीक है उस विराट् तथा व्यक्तिगत क्रिया का जो स्वतः-सचेतन, प्रकाशमान तथा अपने लक्ष्य से अभिन्न हो गयी है।

आत्मोत्सर्ग करने से आत्मपरिपूर्णता की प्राप्ति, त्याग करने से वृद्धि, यह एक विश्वव्यापक नियम है।

तो सत्य के द्वारा ही वास्तविक समस्वरता का, अखण्ड सौख्य का, दिव्य आनद के अदर प्रेम की अतिम कृतार्थता या परिपूर्णता का मार्ग खुल सकता है।

अग्नि एक ज्योति भी है और एक शक्ति भी।

अपनी भट्ठी पर काम करता हुआ यह शिल्पी (अग्नि) हथौडे की चोटें लगा लगाकर हमारी पूर्णता को रच देता है।

वह क्या आर्य है जो दिव्य स्वल्प से, अग्नि से रहित है, उस अग्नि (सकल्प) से जो श्रम को तथा युद्ध को स्वीकार करता है, कार्य करता और जीतता है, कष्ट सहन करता और विजय प्राप्त करता है?

★

वह (सूर्य) उनके (वस्तुओ के) अदर के सत्य को, उनके अभिप्राय को, उनके प्रयोजन को, उनके औचित्य तथा ठीक प्रयोग को प्रकट करता है।

क्योंकि सभी वस्तुए अपनी सत्ता का कोई समुचित कारण रखती हैं, अपना उत्तम उपयोग और अपना उचित आनद रखती हैं। जब वस्तुओ के अदर यह सत्य पा लिया जाता है और उपयोग में ले आया जाता है तब सब वस्तुए आत्मा के लिये भद्र को पैदा कर देती हैं, इसके आनद को बढा देती हैं, इसके ऐश्वर्य को विशाल बना देती हैं।

★

दिव्य उषा परम देव का आगमन है। यह है सत्य और परम सुख की ज्योति जो कि हमपर ज्ञान और आनद के अधिपति की तरफ से बरस रही है—अमृतस्य केतु, स्वसरस्य पत्नी।

★

यदि वस्तुओ के सत्य और औचित्य (सत्य और ऋत) द्वारा हम आनद को पा लेते है तो साथ ही आनद द्वारा हम वस्तुओ के औचित्य और सत्य को भी पा सकते हैं।

यह दिव्य उपभोक्ता (भग) वस्तुओ में, अपने आनद के जिस किसी भी पात्र या विषय में, जिस आनद को ग्रहण करता है उसे कोई भी सीमित नहीं कर सकता, कोई भी क्षीण नहीं कर सकता, न देव न ही दैत्य, न मित्र न ही शत्रु, न कोई घटित घटना न कोई इन्द्रियानुभव।

यह वह रचयिता है जिसकी रचना है सत्य, जिसका यत्न है मानवीय आत्मा में अपने निजी आनद के, अपने दिव्य और त्रुटिरहित सुख के, वर्षण द्वारा सत्य की वृष्टि कर देना।

★

यह एकतालबद्ध शब्द ही है जिसने लोकों को सृजा है और सदैव सृजन कर रहा है। सारा जगत् एक प्रकाशन है या अभिव्यजन है, सृजन है जो शब्द द्वारा किया गया है।

यही मनुष्य की आदर्श स्थिति है कि आत्मशक्ति, बृहस्पति, ब्रह्मा, जो आध्यात्मिक ज्योति और मत्री है, उसका नेतृत्व करे और वह अपने आपको इन्द्र, क्रिया का राजदेवता, अनुभव करता हुआ अपने आपपर तथा अपनी सब प्रजा पर उनके सम्मिलित सत्य के अधिकार से शासन करे। ब्रह्मा राजनि पूर्व एति।

★

जिस प्रकार किसी मनुष्य का शरीर तीव्र मदिरा के सस्पर्श तथा मद से परिपूर्ण हो जाता है उसी प्रकार सारा भौतिक शरीर इस दिव्य आनन्द के सस्पर्श तथा मद से परिपूरित हो जाता है।

उस शरीर में यह नहीं थामा जा सकता जो कि जीवन की बडी से बडी अग्नि-ज्वालाओ में तपी गयी कठोर तपस्याओं द्वारा तथा कष्टसहन और अनुभव द्वारा इसके लिये तैयार नहीं हो पाया है। मिट्टी का कच्चा घडा जो कि आवे की आच के द्वारा पककर दृढ नहीं हो गया है सोमरस को नहीं थाम सकता।

पहला अध्याय

# इन्द्र और अगस्त्य का संवाद

ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त १७०

इन्द्र

न नूनमस्ति नो श्व कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीत वि नश्यति ॥१॥

वह (न नूनम् अस्ति) न अब है (नो श्व) न कल होगा, (तद् क वेद यद् अद्भुतम्) उसे कौन जानता है जो सर्वोच्च और अद्भुत है? (अन्यस्य चित्तम्) अन्य की चेतना (अभि सञ्चरेण्यम्) इसकी गति और क्रिया से सचरित तो होती है, (उत आधीतम्) पर जब विचार द्वारा इसके समीप पहुचा जाता है, तब (वि नश्यति) यह लुप्त हो जाता है ॥१॥

अगस्त्य

कि न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभि कल्पस्व साधुया मा न समरणे वधी ॥२॥

(इन्द्र कि न जिघांससि) हे इन्द्र! तू क्यों हमारा वध करना चाहता है? (मरुत तव भ्रातर) ये मरुत तेरे भाई है। (तेभि साधुया कल्पस्व) उनके साथ मिलकर तू पूर्णता को सिद्ध कर, (समरणे) हमें जो सघर्ष करना पड रहा है उसमें (न मा वधी) तू हमारा वध मत कर ॥२॥

इन्द्र

कि नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि ॥३॥
अर कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धता पुर।
तत्रामृतस्य चेतन यज्ञ ते तनवावहै ॥४॥

(कि, भ्रात अगस्त्य), क्यो, ऐ मेरे भाई अगस्त्य! (सखा सन्) तू मेरा मित्र है तो भी (न अतिमन्यसे) अपने विचार को मुझसे परे

रखता है ? खैर, (विद्म हि) मैं खूब अच्छी तरह जानता हू (यथा) कि क्यो तू (ते मन ) अपने मन को (अस्मभ्य इत् न दित्ससि) हमें नहीं देना चाहता ।।३।।

वे मरुत (वेदिम् अर कृण्वन्तु) वेदि को तैयार कर ले, (पुर अग्निम् समिन्धताम्) अपने आगे अग्नि को प्रज्वलित कर ले। (तत्र) वहीं अर्थात् उसी अवस्था में (अमृतस्य चेतनम्) चेतना अमरत्व की प्राप्ति के लिये जागृत होगी। आ, (ते यज्ञ तनवावहै) हम दोनों मिलकर तेरे लिये तेरे फलसाधक यज्ञ को फैलायें ।।४।।

अगस्त्य

त्वमीशिषे वसुपते वसूना त्व मित्राणा मित्रपते धेष्ठ ।
इन्द्र त्व मरुद्भि स वदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि ।।५।।

(वसूना वसुपते) हे वसुओं के, सब जीवन-तत्त्वों के, शासक, वसुपते ! (त्वम् ईशिषे) तू शक्ति में स्वामी है। (मित्राणां मित्रपते) हे प्रेमशक्तियो के शासक प्रेमाधिपते ! (त्व धेष्ठ ) तू स्थिति में प्रतिष्ठित करने के लिये सबसे अधिक सबल है। (इन्द्र) हे इन्द्र ! (त्व मरुद्भि सवदस्व) तू मरुतों के साथ सहमत हो जा, (अध) और तब (ऋतुथा) सत्य की नियम-क्रम से युक्त पद्धति के अनुसार (हवींषि प्राशान) हवियों का स्वाद ले ।।५।।*

भाष्य

इस सूक्त में जो आधारभूत विचार है उसका सबध आध्यात्मिक प्रगति की एक अवस्था से है, और यह अवस्था वह है जब कि

*यह अनुवाद मैं सामान्य पाठकों के लिये दे रहा हू। अमुक शब्द का अर्थ अमुक तौर पर मैंने क्यो किया है इसके विस्तार में जाना, इसके लिये भाषाविज्ञानसबधी तथा अन्य प्रकार के प्रमाण देना यहा सभव नहीं होगा और वैसे भी यह थोडे से अन्वेषक विद्वान् लोगो के लिये रुचिकर होगा, इसलिये इसे यहा मैं छोड रहा हू या स्थगित कर रहा हू।

मनुष्य का आत्मा केवलमात्र विचार-शक्ति के द्वारा ही शीघ्रता के साथ आगे बढकर पार हो जाना चाहता है ताकि समय के पहले ही, सचेतन क्रिया की जो क्रमश: एक के बाद दूसरी अवस्थाए आती है उन सबमें पूर्ण विकास को पाये बिना ही, वह सब वस्तुओ के मूल कारण (स्रोत) तक पहुच जाय। देव जो कि मानव-विश्व और विराट्-विश्व दोनों के शासक है उसके इस प्रयत्न का विरोध करते है और मनुष्य की चेतना के अदर एक जबर्दस्त सघर्ष चलता है, जिसमें एक तरफ तो अपनी अहभावप्रेरित अति उत्सुकता के साथ व्यक्तिगत आत्मा होता है और दूसरी तरफ विश्व-शक्तिया होती है जो कि विश्व के दिव्य उद्देश्य को पूर्ण करना चाह रही होती है।

ऐसे क्षण में ऋषि अगस्त्य की, अपनी आन्तर अनुभूति में, इन्द्र से भेंट होती है, जो इन्द्र स्व का अधिपति है और जो 'स्व' है विशुद्ध प्रज्ञा का लोक जिसके बीच में से होकर दिव्य सत्य में पहुचने के लिये आरोहण करते हुए आत्मा को गुजरना होता है।

सर्वप्रथम इन्द्र यह कहता है कि हे अगस्त्य! वस्तुओं का वह मूल स्रोत अविज्ञेय है जिसे पाने के लिये तुम ऐसी अधीरता के साथ यत्नशील हो रहे हो। वह काल में नहीं पाया जा सकता (वह कालातीत है)। वह वर्तमान की वास्तविकताओ के अदर नही रहता, न ही वह भविष्य में फलित होनेवाली सभाव्यताओ में है। वह न अब है, न अब के बाद होता है। उसका अस्तित्व देश और काल से अतीत है, और इसलिये वह स्वय उससे नहीं जाना जा सकता जो देश और काल में सीमित है। वह अपने रूपों और अपनी क्रियाओ के द्वारा उसकी जो वह स्वय नहीं है (अन्यस्य) चेतना के अदर अपने आपको व्यक्त करता है और उन क्रियाओ का अभिप्राय यह है कि उसकी उन क्रियाओं द्वारा ही उसका साक्षात्कार किया जाना चाहिये। पर यदि कोई सीधा स्वय इसके पास पहुचने का और इसके स्वरूप को अध्ययन करने का यत्न करता है तो झट यह उस विचार में से जो कि इसे ग्रहण करना चाहता है निकलकर

अन्तर्धान हो जाता है और ऐसा हो जाता है मानो यह है ही नहीं (देखो, मत्र १)।

अगस्त्य अब तक नहीं समझ पाता कि भला क्यों इस अनुसरण में उसका ऐसा जबर्दस्त विरोध किया गया है, वह तो उसी का अनुसरण कर रहा था जो सब मनुष्यों का अतिम लक्ष्य है और उसके सब विचार तथा उसके सब अनुभव जिसकी माग कर रहे है। 'मरुत्' विचार की शक्तिया है जो अपनी प्रगति की सबल तथा दीखने में विनाशक गति के द्वारा इसे जो अब तक निर्मित हुआ है तोड गिराती है तथा नवीन रचनाओ की उपलब्धि में सहायक होती है। इन्द्र, जो विशुद्ध प्रज्ञा की शक्ति है, उन मरुतो का भाई है, अपनी प्रकृति में उनका सजातीय है यद्यपि सत्ता में उनसे ज्येष्ठ है। तो इन्द्र को उन मरुतो के साथ होकर उस पूर्णता को निष्पन्न करना हो चाहिये जिसके लिये अगस्त्य इतना प्रयत्नशील है, उसे शत्रु नहीं बन जाना चाहिये, न ही उसे अपने मित्र (अगस्त्य) का, लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जो उसे यह भीषण सघर्ष करना पड रहा है उसमें, वध करना चाहिये (देखो, मत्र २)।

इन्द्र उत्तर देता है कि हे अगस्त्य! तुम-मेरे मित्र और भाई हो, (आत्मत अगस्त्य इन्द्र का भाई इस तरह कि ये दोनो एक परम सत्ता के पुत्र है, मित्र इस तरह कि ये दोनो एक प्रयत्न में सहयोगी होते है तथा दिव्य प्रेम में, जो कि देव और मनुष्य को जोडनेवाला है, ये दोनो एक होते है), और इसी मित्रता तथा बधुत्व के सहारे तुम उत्तरोत्तर आनेवाली पूर्णता में बढते हुए वर्तमान अवस्था तक पहुच पाये हो, पर अब तुम मेरे प्रति ऐसा व्यवहार कर रहे हो जैसे कि मै कोई अवर कोटि की, घटिया दर्जे की शक्ति हू और देव के राज्य में अपने को सिद्ध किये बिना ही तुम परे पहुच जाना चाहते हो। क्योकि अगस्त्य अपनी बढी हुई विचार शक्तियो को सीधे अपने लक्ष्य की तरफ ही फेरना चाहता है, इसकी जगह कि वह उन्हें विराट् प्रज्ञा में सौंप देवे जिससे कि वह विराट प्रज्ञा अपनी सिद्धियो को अगस्त्य द्वारा सारी मानवता

में सुसमृद्ध कर सके तथा अगस्त्य को सत्य के मार्ग पर अग्रसर कर सके। इसलिये इन्द्र कहता है, अहभाव से भरा हुआ प्रयत्न रोक दो, महान् यज्ञ को ग्रहण करो, यज्ञ के प्रधान अग तथा यात्रा के पथप्रदर्शक के तौर पर अपने आगे अग्नि को, दिव्य शक्ति की ज्वाला को, प्रज्वलित कर लो। मैं (इन्द्र) और तुम (अगस्त्य), विराट् शक्ति और मानव आत्मा, दोनो मिलकर फलसाधक आन्तरिक क्रिया को समस्वरता के साथ विशुद्ध प्रज्ञा के स्तर पर विस्तृत करेंगे, ताकि यह क्रिया वहा अपने को सुसमृद्ध कर सके और पार होकर लक्ष्य को पहुच सके। क्योंकि जब निम्न सत्ता अपने आपको उत्तरोत्तर दिव्य क्रियाओं के अर्पण करती चलेगी, ठीक तभी यह हो सकता है कि मर्त्य की सीमित तथा अहभाव से परिपूर्ण चेतना जागृत होकर असीम तथा अमरत्व की अवस्था तक, जो कि उसका लक्ष्य है, पहुच सके (देखो, मत्र ३, ४)।

अगस्त्य इस देव की इच्छा को स्वीकार कर लेता है और उसे आत्म-समर्पण कर देता है। वह सहमत हो जाता है कि वह इन्द्र की क्रियाओं में भी सर्वोच्च शक्ति को देखे और उसे सिद्ध करे। अपने स्वकीय लोक में इन्द्र जीवन के सब तत्त्वो (वसुओ) का, जो कि मन, प्राण और शरीर के त्रिगुण लोक में अभिव्यक्त होते हैं, सर्वोच्च अधिपति है और इसलिये शक्ति रखता है कि वह उस दिव्य सत्य की सिद्धि के लिये जो विश्व में अपने को अभिव्यक्त करता है इस त्रिगुण लोक की रचनाओ का–प्रकृति की क्रिया में–उपयोग कर सके–और इन्द्र सर्वोच्च अधिपति है प्रेम और आनद का जो प्रेम और आनद उसी (मन, प्राण और शरीर के) त्रिगुण लोक में व्यक्त होते हैं और इसलिये उसमें शक्ति है कि वह इसकी रचनाओ को समस्वरता के साथ–प्रकृति की स्थिति में–यथास्थान स्थापित कर सके। अगस्त्य को जो कुछ भी सिद्धि हुई है उस सबको वह, यज्ञ की हवि की तरह, इन्द्र के हाथो में सौंप देता है ताकि इन्द्र उसे अगस्त्य की चेतना के सुप्रतिष्ठित भागो में धारण करा सके तथा नवीन रचनाओं को करने के लिये उसे गति दे सके। इन्द्र को एक बार फिर अगस्त्य

के जीवन की ऊर्ध्वगामिनी अभीप्सा-शक्तियों (मरुतो) के साथ मैत्री-संलाप करना है और उस ऋषि के विचारों तथा उस प्रकाश के बीच में, जो प्रकाश कि हम तक विशुद्ध प्रज्ञा के द्वारा आता है, एकता स्थापित करानी है। यह शक्ति (इन्द्र-शक्ति) तब अगस्त्य के अंदर यज्ञ की हवियों का उपभोग करेगी, वस्तुओं के उस उचित नियमक्रम के अनुसार जो नियमक्रम उस पार रहनेवाले सत्य से व्यवस्थित तथा शासित होता है (देखो, मंत्र ५)।

दूसरा अध्याय

## इन्द्र, दिव्य प्रकाश का प्रदाता

ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ४

सुरुपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥

(सुरुपकृत्नुम्) जो पूण रूपो का निर्माता है (गोदुहे सुदुघामिव) और जो गो-दोहक के लिये एक खूब दूध देनेवाली गौ के समान है उस [इन्द्र] को (ऊतये) वृद्धि के लिये (द्यवि द्यवि जुहूमसि) दिन प्रतिदिन हम पुकारते है ॥१॥

उप न सवना गहि सोमस्य सोमपा पिब।
गोदा इद्रेवतो मद ॥२॥

(न सवना उप आगहि) हमारी सोम रस की हवियो के पास आ। (सोमपा) हे सोम-रसो के पीनेवाले! (सोमस्य पिब) तू सोमरस का पान कर, (रेवत मद) तेरे दिव्य आनद का मद (गोदा इत्) सचमुच प्रकाश को देनेवाला है ॥२॥

अथा ते अन्तमाना विद्याम सुमतीनाम्।
मा नो अति ख्य आ गहि ॥३॥

(अथ) तब अर्थात् तेरे सोम पान के पश्चात् (ते अन्तमाना सुमतीनाम्) तेरे चरम सुविचारों में से कुछ को (विद्याम) हम जान पावे। (मा न अति ख्य) उनको हमें अतिक्रमण करके मत दर्शा, (आगहि) आ ॥३॥

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्र पृच्छा विपश्चितम्।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥४॥

(परेहि) आ जा, (इन्द्र पृच्छ) उस इन्द्र से प्रश्न कर (विपश्चितम्) जो स्पष्टद्रष्टा मनवाला है (विग्रम्) जो बडा शक्तिशाली है (अस्तृतम्) जो अपराभूत है, (य ते सखिभ्य) जो तेरे सखाओ के लिये (वरम् आ) उच्चतर सुख को लाया है ॥४॥

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद् दुव ॥५॥

(उत निद न ब्रुवन्तु) और हमारे अवरोधक* भी हमें कहें कि "नहीं, (इन्द्रे इत् दुव दधाना) इन्द्र में अपनी क्रियाशीलता को निहित करते हुए तुम (अन्यत चित् नि आरत) अन्य क्षेत्रो में भी निकलकर आगे बढते जाओ" ॥५॥

उत न सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टय ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥६॥

(उत) और (दस्म) हे कार्यसाधक ! (अरि) योद्धा (कृष्टय) कर्म के कर्ता† (न सुभगान् वोचेयु) हमें पूर्ण सौभाग्यशाली कहें, (इन्द्रस्य शर्मणि इत् स्याम) हम इन्द्र की शाति में ही रहें॥६॥

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रिय नृमादनम्।
पतयन्मन्दयत्सखम् ॥७॥

---

*या निन्दक, 'निद'। 'निद्' धातु, मेरा विचार है, वेद में बधन, घेरा, सीमा के अर्थ में आयी है, और इसके ये अर्थ होते हैं यह बात पूर्ण निश्चयात्मकता के साथ भाषाविज्ञान द्वारा भी प्रमाणित की जा सकती है। 'निदित', 'निदान' शब्दो का भी, जिनका अर्थ क्रमश, बद्ध और बधनरज्जु है, आधार यही धातु है। पर साथ ही इस धातु का अर्थ निन्दा करना भी है। गुह्य कथन की इस अद्भुत शैली के अनुसार विभिन्न सदर्भों में कहीं एक अर्थ प्रधानभूत होकर रहता है कहीं दूसरा, पर कहीं भी एक अर्थ दूसरे अर्थ का पूर्ण बहिष्कार नहीं कर रहा होता।

†'अरि कृष्टय' का अनुवाद "आर्य लोग" या "रणप्रिय जातिया" भी हो सकता है। 'कृष्टि' और 'चर्षणि' जिनका अर्थ सायण ने "मनुष्य" किया है, बने हैं 'कृष्' तथा 'चर्ष्' धातु से जिनका मूलत अर्थ होता है 'श्रम, प्रयत्न या श्रमसाध्य कर्म'। इन शब्दों का अर्थ कहीं कहीं 'वैदिक कर्म का कर्ता' और कहीं स्वय 'कर्म' भी हो जाता है।

(आशवे) तीव्रता के लिये (आशुम्) तीव्र को [ला], (मन्दयत्सखम्) अपने सखा को आनंदित करनेवाले [इन्द्र] को (पतयत्) मार्ग में आगे ले आता हुआ, तू (ईम् नृमादनं यज्ञश्रियम् आभर) इस यज्ञश्री को ले आ जो कि मनुष्य को मदयुक्त कर देनेवाली है॥७॥

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः।
प्रावो वाजेषु वाजिनम्॥८॥

(अस्य पीत्वा) इस [सोम-रस] का पान करके (शतक्रतो) हे सैकड़ों क्रियाओंवाले! (वृत्राणां घनः अभवः) तू आवरणकर्ताओं का वध कर डालनेवाला हो गया है, और तूने (वाजिनम्) समृद्ध मन को (वाजेषु) उसकी समृद्धियों में (प्र आवः) रक्षित किया है॥८॥

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो।
धनानामिन्द्र सातये॥९॥

(वाजेषु वाजिन तं त्वा) अपनी समृद्धियों में समृद्ध हुए उस तुझको (इन्द्र शतक्रतो) हे इन्द्र! हे सैकड़ों क्रियाओंवाले! (धनानां सातये) अपने प्राप्त ऐश्वर्यों के सुरक्षित उपभोग के लिये (वाजयामः) हम और अधिक समृद्ध करते है॥९॥

यो रायो वनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा।
तस्मा इन्द्राय गायत॥१०॥

(यः महान् रायः अवनिः) जो अपने विशाल रूप में एक दिव्य सुख का धाम है, (सुन्वतः सुपारः सखा) सोम-प्रदाता का ऐसा सखा है कि उसे सुरक्षित रूप से पार कर देता है, (तस्मै इन्द्राय गायत) उस इन्द्र के प्रति गान करो॥१०॥

## सायण की व्याख्या

१. (सुरूपकृत्नुम्) शोभन रूप [वाले कर्मों] के कर्ता, इन्द्र को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (द्यवि द्यवि) प्रतिदिन (जुहूमसि) हम बुलाते है, (गोदुहे सुदुघाम् इव) जैसे गोदोहक के लिये सुष्ठुदोग्ध्री गाय को [कोई बुलाया करता है]।

२. (सोमपाः) हे सोम-पान करनेवाले इन्द्र! (न. सवना उप आ-गहि) तू हमारे [तीन] सवनों में आ, और (सोमस्य पिब) सोम को पी; (रेवतः मदः) तुझ धनवान् की प्रसन्नता (गोदा इत्) सचमुच गौओ को देनेवाली है अर्थात् जब तू हमसे प्रसन्न हो जाता है तब निश्चय ही हमें बहुत सी गौए देता है।

३. (अथ) उस तेरे सोम-पान के अनतर (ते अन्तमाना सुमतीनाम्) जो तेरे अत्यत समीप है ऐसे सुमतियुक्त पुरुषो के मध्य में [स्थित होकर] (विद्याम) हम तुझे जान लें। (न. अति मा ख्य) तू हमें अतिक्रमण करके [अन्यो को अपने स्वरूप का] कथन मत कर, [किंतु] (आगहि) हमारे पास ही आ।

४. होता यजमान से कहता है कि हे यजमान! (परेहि) तू इन्द्र के पास जा और जाकर (इन्द्रम्) उस इन्द्र से (विपश्चितम्) मुझ बुद्धि-मान् होता के विषय में (पृच्छ) पूछ [कि मैंने उसकी सम्यक् प्रकार से स्तुति की है या नहीं], उस इन्द्र से जो कि (विप्रम्) मेधावी है (अ-स्तृतम्) अहिंसित है और (यः ते सखिभ्य.) जो तेरे सखाओं [ऋत्विजों] को (वरम्) श्रेष्ठ धन [आप्रयच्छति]* सब तरफ से प्रदान करता है।

५. (न॰) हमारे [अर्थात् हमारे ऋत्विज] (ब्रुवन्तु) कहे [अर्थात् इन्द्र की स्तुति करे],–(उत) और साथ ही (निदः) ओ निन्दा करनेवाले पुरुषो! तुम [यहा से] तथा (अन्यत. चित्) अन्य स्थान से भी (निः आरत) बाहर निकल जाओ,–[हमारे ऋत्विज] (इन्द्रे इत् दुवः दधाना.) इन्द्र की सदैव परिचर्या करनेवाले हो।

६. (दस्म) हे [शत्रुओ के] विनाशक! (अरि॰ उत) हमारे शत्रु तक (नः सुभगान् वोचेयुः) हमें शोभन धनो का मालिक कहे,–(कृष्टय) मनुष्य [अर्थात् हमारे मित्र तो ऐसा कहेंगे ही, इसमें कहना ही क्या]; (इन्द्रस्य शर्मणि स्याम इत्) इन्द्र के [प्रसाद से प्राप्त हुए] सुख में हम अवश्य होवे।

---

*इति शेष.।

७. हे यजमान! (आशवे) [समस्त सोमयाग में] व्याप्त इन्द्र के लिये (ईम् आभर) इस [सोम] को ला, [जो सोम] (आशुम्) [तीनों सवनों में] व्याप्त होनेवाला है (यज्ञश्रियम्) यज्ञ की संपदा है (नृमादनम्) मनुष्यों, अर्थात् ऋत्विजो व यजमानो को हर्षित करनेवाला है (पतयत्) यज्ञविधियों में आनेवाला है (मन्दयत्सखम्) [यजमान को] आनंदित करनेवाले [इन्द्र] का सखा है।

८. (शतक्रतो) हे अनेक कर्मोवाले इन्द्र! (अस्य पीत्वा) इस सोम के अंश को पीकर तू (वृत्राणां घनः अभवः) वृत्रों का [अर्थात् वृत्र जिनका मुखिया है ऐसे शत्रुओ का] हन्ता बन गया है, और तूने (वाजेषु) रणों में (वाजिनम्) अपने योद्धा भक्त की (प्रावः) पूर्णतया रक्षा की है।

९. (शतक्रतो) हे अनेक कर्मोवाले या अनेक प्रज्ञाओंवाले इन्द्र! (धनानां सातये) धनों के सभजन के लिये (वाजेषु) युद्धों में (वाजिनं त त्वा) बलवान्* उस तुझको (वाजयामः) हम बहुत सारे अन्नो से युक्त करते है।

---

*देखो कि सायण ८वें मंत्र में 'वाजेषु वाजिनम्' का अर्थ करता है "रणो में योद्धा" और ठीक इससे अगले ही मंत्र में इसी का अर्थ "युद्धों में बलवान्" यह कर देता है। और 'वाजेषु वाजिनं वाजयाम.' इस वाक्यांश में उसने मूल शब्द 'वाज' के ही भिन्न भिन्न तीन अर्थ कर डाले है, "युद्ध", "बल" और "अन्न"। सायण की शैली की अत्यधिक असंगतियुक्तता का यह एक उदाहरणार्थ नमूना है।

मैंने यहा दोनो (अपने तथा सायण के) अर्थों को इकट्ठा दे दिया है ताकि पाठक दोनो शैलियो की तथा दोनों से निकलनेवाले परिणामों की एक दूसरे के साथ सुगमता से तुलना कर सकें। जहां कहीं सायण को अर्थ को पूरा करने के लिये या उसे आसानी से समझ में आने लायक बनाने के लिये अपनी तरफ से अध्याहार करना पड़ा है उसे मैंने [ ] इस प्रकार के कोष्ठ में प्रदर्शित कर दिया है। वह पाठक भी जो कि

१०. (तस्मै इन्द्राय गायत) उस इन्द्र के स्तुतिगीत गाओ (य) जो (राय अवनि) धन-दौलत का रक्षक है, (महान्) महान् गुणोवाला है (सुपार) [कर्मों को] उत्तमता के साथ पूर्ण करनेवाला है, (सुन्वत सखा) और सोमयाग करनेवाले यजमान का मित्रवत् प्रिय है।

भाष्य

विश्वामित्र का पुत्र मधुच्छन्दस् ऋषि सोम-रस की हवि को लेकर इन्द्र का आवाहन कर रहा है, इन्द्र है प्रकाशमय मन का अधिपति, इन्द्र का आवाहन वह इसलिये कर रहा है कि वह प्रकाश में वृद्धिगत हो सके। इस सूक्त में प्रयुक्त सब प्रतीक सामुदायिक यज्ञ के प्रतीक है। इस सूक्त का प्रतिपाद्य विषय यह है कि इन्द्र आकर सोम का, अमरता के रस का, पान करे और उस सोमपान के द्वारा उसके अदर बल तथा आनद की वृद्धि हो, और उसके परिणामस्वरूप मनुष्य में प्रकाश का उदय हो जाय जिससे कि उसके आन्तरिक ज्ञान में आनेवाली बाधाए हट जाय और वह उन्मुक्त मन के उच्चतम वैभवो को प्राप्त कर ले।

पर यह सोम क्या वस्तु है, जिसे कहीं यहीं अमृत, ग्रीक का अम्ब्रोशिया (Ambrosia) भी कहा गया है, मानो कि यह अपने आपमें अमरता का सार-पदार्थ हो? सोम है, आलकारिक रूप में वर्णित किया हुआ, दिव्य सुख, आनद-तत्त्व, जिसमेंसे, वैदिक विचार के अनुसार, मनुष्य की सत्ता हुई है, यह मानसिक जीवन निकला है। एक गुप्त आनद है जो सत्ता का आधार है, सत्ता को धारण करनेवाला वातावरण या आकाश है, सत्ता का लगभग सार-तत्त्व ही है। इस आनद के लिये तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि यह दिव्य सुख का आकाश है जो यदि

---

सस्कृत से अनभ्यस्त है, मै समझता हू, अकेले इसी नमूने को देखकर, उन युक्तियों का समर्थन कर सकेगा जिनके आधार पर, आधुनिक समालोचक मन को यह युक्तियुक्त जचता है कि वह यह मानने से इन्कार कर दे कि वैदिक सहिता की व्याख्या के लिये सायण एक विश्वसनीय अतिम प्रमाण है।

न हो तो किसी का भी अस्तित्व न रहे। ऐतरेय उपनिषद् में बताया है कि सोम, चद्रमा के रूप में, विराट् पुरुष के इन्द्रियाधिष्ठित मन से पैदा हुआ है और जब मनुष्य की रचना हुई है तब वही चद्रमा फिर मनुष्य के अदर इन्द्रियाधिष्ठित मन-रूप होकर अभिव्यक्त हो गया है।* क्योकि आनद में ही इन्द्रिय-सवेदन की सप्रयोजनता है, या हम यों कह सकते है कि सत्ता का जो गुप्त आनद है उसे भौतिक चेतना की परिभाषाओ में रूपातरित करने का एक प्रयत्न ही इन्द्रिय-सवेदन है। पर उस भौतिक चेतना,—जो प्राय 'अद्रि' अर्थात् पहाडी, पत्थर या घनीभूत पदार्थ के प्रतीक से निरूपित की गयी है—के अदर दिव्य प्रकाश और दिव्य आनद दोनो ही छिपे और बद हुए पडे है और इन्हें वहा से मुक्त किया जाना या निष्कासित किया जाना है। आनद, रस के रूप में, सार-तत्त्व के रूप में, इन्द्रियाधिष्ठित विषयो तथा इन्द्रियानुभूतियो में, पृथ्वी-प्रकृति की उपज-रूप पौधो व वनस्पतियो में रखा हुआ है, और इन वनस्पतियो में जो रहस्यपूर्ण सोमलता है वह सब इन्द्रिय-क्रियाओ तथा उनके सुखभोगो के पीछे रहनेवाले उस तत्त्व का प्रतीक है जो दिव्य रस को देता है, जिससे दिव्य रस निचोडा जाता है। इस दिव्य रस को इसमेंसे क्षरित करना होता है और एक बार क्षरित हो जाय तो फिर इसे विशुद्ध करना और तीव्र बनाना होता है जब तक कि यह प्रकाशयुक्त, किरणो से परिपूर्ण, आशु-गति से परिपूर्ण, बल से परिपूर्ण, 'गोमत्', 'आशु', 'सुवाक्' न हो जाय। यह सोम का दिव्य रस देवो का मुख्य भोजन बन जाता है, जो देव सोम हवि के लिये बुलाये जाने पर, आकर आनद का अपना भाग ग्रहण करते है और उस दिव्य आनद के बल में वे मनुष्य के अदर प्रवृद्ध होते

---

[1] देखो तै० २।७—"को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।"

*देखो ऐत० खण्ड १।२—"मनसश्चन्द्रमा"।...."चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदय प्राविशत्।"

है, मनुष्य को उसकी उच्चतम संभावनाओं तक ऊंचा उठा देते हैं और उसे दिव्य उच्च अनुभूतियों को पा सकने योग्य बना देते हैं। जो अपने अंदर के आनंद को हवि बनाकर दिव्य शक्तियों के लिये अर्पित नहीं कर देते, बल्कि अपने आपको इन्द्रियों तथा निम्न जीवन के लिये सुरक्षित रखना पसंद करते हैं वे देवों के पूजक नहीं किंतु पणियों के पूजक हैं, जो पणि इन्द्रिय-चेतना के अधिपति हैं, इस चेतना की सीमित क्रियाओं में व्यवहार करनेवाले हैं, जो रहस्यपूर्ण सोम-रस को नहीं निचोड़ते हैं, विशुद्ध हवि को अर्पित नहीं करते हैं, पवित्र गान को नहीं गाते हैं। ये पणि ही हैं जो प्रकाशमयी चेतना की दिव्य किरणों को, सूर्य की उन जगमगाती गौओं को, हमारे पास से चुरा ले जाते हैं, और उन्हें ले जाकर अवचेतन की गुफा में, भौतिकता की घनी पहाड़ी में, बंद कर देते हैं, और देवशुनी सरमा, प्रकाशमय अन्तर्ज्ञान, जब उन गौओं के पदचिह्नों का अनुसरण करते करते पणियों की गुफा के पास पहुंचती है,तब उस तक को जो कलुषित करते हैं।

पर इस सूक्त में जो विचार दिया गया है वह हमारी आन्तरिक प्रगति की एक विशेष अवस्था से संबंध रखता है। यह अवस्था वह है जब कि पणियों का अतिक्रमण किया जा चुका है और 'वृत्र' या 'आच्छादक' भी जो कि हमसे हमारी पूर्ण शक्तियों तथा क्रियाओं को पृथक् किये रखता है और 'वल' भी जो कि प्रकाश को हमसे रोके रखता है, पराजित हो चुके हैं। परंतु अब भी कुछ ऐसी शक्तियां हैं जो हमारी पूर्णता के मार्ग में बाधक बनकर आ खड़ी होती हैं। वे हैं सीमा में बांधनेवाली शक्तियां, अवरोधक या निन्दक, जो यद्यपि समग्ररूप में किरणों को छिपा या बलों को रोक तो नहीं लेते, पर तो भी हमारी आत्म-अभिव्यक्ति की त्रुटियों पर निरंतर बल देने के द्वारा वे यह यत्न करते हैं कि इस (आत्म-अभिव्यक्ति) का क्षेत्र सीमित हो जाय और वे अब तक सिद्ध हुए आन्तरिक विकास को आगे आनेवाले विकास के लिये बाधक बना देते हैं। तो मधुच्छन्दस् ऋषि इन्द्र का आवाहन कर रहा

है कि वह आकर इस दोष को निवृत्त कर दे और इसके स्थान पर एक वृद्धिशील प्रकाश को स्थिर कर दे।

यह तत्त्व जो यहा 'इन्द्र' नाम से सूचित किया गया है मन शक्ति है जो कि प्राणमय चेतना की सीमितताओं और धुंधलेपन से मुक्त है। यह वह प्रकाशमयी प्रज्ञा है जो विचार या क्रिया के उन सत्य और पूर्ण रूपों को निर्मित करती है जो प्राण के आवेगों से विकृत नहीं होते, इन्द्रियो के मिथ्याभावो से प्रतिहत नहीं होते। उपमा यहा एक गाय की दी गयी है जो गाय गोदोग्धा को प्रचुर मात्रा में दूध देनेवाली है, दोग्ध्री है। 'गो' शब्द के सस्कृत में दोनों अर्थ होते है, एक गाय और दूसरा प्रकाश की किरण। वैदिक प्रतीकवादियों ने इस द्विविध अर्थ का प्रयोग एक दोहरे रूपक को दिखाने के लिये किया है और वह रूपक उनके लिये निरा अलकार ही नहीं है बल्कि विशेष अर्थ को रखता है, क्योंकि प्रकाश, उनकी दृष्टि में, कविता के लिये सुलभ तौर पर प्रयुक्त किया जानेवाला केवल विचार का एक चित्रमात्र नहीं है बल्कि सचमुच के अपने भौतिक रूप को भी रखता है। इस प्रकार 'गौए' जो दुही जाती हैं, सूय की गौए है, जो सूर्य है स्वत प्रकाशयुक्त और अन्तर्ज्ञानयुक्त मन का अधिपति, या वे गौए उषा की गौए है, जो उषा वह देवी है जो सौर महिमा को अभिव्यक्त किया करती है। ऋषि इन्द्र से यह कामना कर रहा है कि हे इन्द्र! तू मेरे पास आ और अपनी पूर्णतर क्रियाशीलता द्वारा अपनी किरणो को अत्यधिक मात्रा में मेरे ग्रहणशील मन पर डालता हुआ तू मेरे अदर दिन प्रतिदिन सत्य के इस प्रकाश की वृद्धि को करता जा। (मत्र १)

सोम-रस रूप से आलकारिकतया वर्णित, दिव्य सत्ता और दिव्य क्रिया में रहनेवाला जो आनद है उसकी हमारे अदर चेतनायुक्त अभिव्यक्ति होने से ही यह होता है कि विशुद्ध प्रकाशमय प्रज्ञा की क्रिया स्थिर हो जाती है और वृद्धिगत हो जाती है। क्योंकि वह प्रज्ञा इसी पर फलती फलती है, इसकी क्रिया अन्तःप्रेरणा का एक मदयुक्त आनद बन जाती है जिसके

द्वारा किरणें प्रचुरता के साथ और उल्लास के साथ प्रवाहित होती हुई अदर आती हैं। "जब तू आनद में होता है तब तेरा मद सचमुच प्रकाश को देनेवाला होता है", गोदा इद् रेवतो मद। (मन्त्र २)

क्योंकि तभी यह सभव होता है कि उन बाधाओं को जिन्हें अवरोधक शक्तिया अब भी आग्रहपूर्वक बीच में डाले हुए हैं, तोड फोडकर, परे जाकर ज्ञान के उन अतिम तत्त्वो के कुछ अश तक पहुचा जा सके जो कि प्रकाशमय प्रज्ञा में ही सभव है। सत्य विचार, सत्य सवेदनशीलताए–यह है 'सुमति' शब्द का पूर्ण अभिप्राय, क्योंकि वैदिक 'मति' में केवल विचार ही नहीं बल्कि इसमें मनोवृत्ति के भावमय अश भी सम्मिलित हैं। 'सुमति' है विचारो के अदर प्रकाश का होना, साथ ही यह आत्मा में होनेवाली प्रकाशयुक्त प्रसन्नता और दयालुता भी है। परतु इस सदर्भ में अर्थ का बल सत्य विचार पर है, न कि मनोभावो पर। तो भी यह आवश्यक है कि सत्य विचार में प्रगति उस चेतना के क्षेत्र में ही प्रारभ हो जानी चाहिये जिस चेतना तक हम पहुचे हुए हो, यह नहीं होना चाहिये कि जरा देर के लिये होनेवाली चमके और चकाचौंध करनेवाली क्षणिक अभिव्यक्तिया हमारे सामने आवे जो कि हमें अतिक्रमण किये हुए, हमारी शक्ति से परे को होने के कारण सत्य रूप में अपने को व्यक्त करने में अशक्त रहें और हमारे ग्रहणशील मन को गडबडी में डालती रहें। इन्द्र को केवल प्रकाशक ही नहीं होना चाहिये किंतु सत्यविचार-रूपों का रचयिता, सुरूपकृत्नु भी होना चाहिये। (मन्त्र ३)

आगे ऋषि सामुदायिक योग के अपने किसी साथी की ओर अभिमुख होके, या सभवत अपने ही मन को सबोधन करता हुआ, उसे (साथी को या अपने मन को) प्रोत्साहित करता है कि आ, तू इन उलटे सुझावो की बाधा को जो तेरे विरोध में खडी की गयी है पार करके आगे बढ जा और दिव्य प्रज्ञा (इन्द्र) से पूछ पूछकर उस सर्वोच्च सुख तक पहुच जा जिसे कि इस प्रज्ञा द्वारा अन्य पहले भी पा चुके हैं। क्योंकि यह वह प्रज्ञा है जो स्पष्टतया विवेक कर सकती है और जो सब गडबडियो

व धुधलेपनो को, जो अब तक भी विद्यमान है, दूर कर सकती या हटा सकती है। गति में तीव्र, प्रचण्ड, शक्तिशाली होती हुई यह, अपनी शक्ति के कारण, प्राणमय चेतना के आवेगो की तरह अपने मार्गों में स्खलन को प्राप्त नहीं होती (अस्तृतम्) अथवा इसका अपेक्षा यह आशय हो सकता है कि अपनी अपराजेय शक्ति के कारण यह आक्रमणो के वशीभूत नहीं होती, वे आक्रमण आच्छादको (वृत्रों) के हो या उन शक्तियो के जो सीमा में बाधनेवाली है। (मत्र ४)

इससे आगे उन फलो का वर्णन किया गया है जिन्हें पाने की ऋषि अभीप्सा करता है। इस पूर्णतर प्रकाश के हो जाने से, जो कि मानसिक ज्ञान के अतिम रूपो में आ जाने पर खुलकर प्रकट हो जाता है, यह होगा कि बाधा की शक्तिया संतुष्ट हो जायगी तथा स्वयमेव आगे से हट जायगी तथा और अधिक उन्नति और नवीन प्रकाशपूर्ण प्रगतियो को आने के लिये रास्ता दे देंगी। फलत वे कहेंगी, "लो, अब तुम्हें यह अधिकार दिया जाता है जिस अधिकार को अब तक हम, उचित तौर से ही, तुम्हें नहीं दे रही थीं। तो अब न केवल उन क्षेत्रों में जिन्हे तुम पहले ही जीत चुके हो बल्कि अन्य क्षेत्रो में तथा अक्षुण्ण पडे प्रदेशो में अपनी विजयशील यात्रा को जारी करो। अपनी यह क्रिया पूर्णरूप से दिव्य प्रज्ञा को सम पित करो, न कि अपनी निम्न शक्तियों को। क्योंकि यह महत्तर समर्पण ही है जो तुम्हे महत्तर अधिकार प्रदान करता है।"

'आरत' शब्द जिसका अर्थ गति करना या यत्न करना है, अपने सजातीय 'अरि', 'अर्य', 'आय', 'अरति', 'अरण' शब्दो की तरह वेद के केद्रभूत विचार को अभिव्यक्त करनेवाला है। 'अर्' धातु हमेशा प्रयत्न की या सघर्ष की गति को अथवा सर्वातिशायी उच्चता को या श्रेष्ठता की अवस्था को निर्दिष्ट करती है, यह नाव खेना, हल चलाना, युद्ध करना, ऊपर उठाना, ऊपर चढना अर्थों में प्रयुक्त की जाती है। तो 'आर्य' वह मनुष्य है जो वैदिक क्रिया द्वारा, आन्तर या बाह्य 'कर्म' अथवा 'अपस्' द्वारा, जो कि देवों के प्रति यज्ञरूप होता है, अपने आपको परिपूर्ण

करने की इच्छा रखता है। पर यह कर्म एक यात्रा, एक प्रयाण, एक युद्ध, एक ऊर्ध्वमुख आरोहण के रूप में भी चित्रित किया गया है। आर्य मनुष्य ऊचाइयों की तरफ जाने का यत्न करता है, अपने प्रयाण में, जो प्रयाण कि एक साथ एक अग्रगति और ऊर्ध्वारोहण दोनो है, सघर्ष करके अपने मार्ग को बनाता है। यही उसका आर्यत्व है, 'अर्' धातु से ही निष्पन्न एक ग्रीक शब्द को प्रयुक्त करे तो यही उसका 'अरेटे (Arete)' गुण है। 'आरत' का अवशिष्ट वाक्यांश के साथ मिलाकर यह अनुवाद किया जा सकता है कि, "निकल चलो और सघर्ष करके अन्य क्षेत्रों में आगे बढते जाओ।" (मत्र ५)

शब्द-प्रतिध्वनियो द्वारा विचार-सबधो को सूचित करने की सूक्ष्म वैदिक पद्धति के अनुसार इसी विचार को अगले मत्र के *'अरि कृष्टय'* शब्दो द्वारा फिर उठाया गया है। मेरे विचार में ये 'अरि कृष्टय' कोई पृथ्वी पर रहनेवाली आर्य जातिया नहीं है (यद्यपि यह अर्थ भी सभव है जब कि समूहात्मक या राष्ट्रगत योग या विचार अभिप्रेत हो) बल्कि ये शक्तियां है जो कि मनुष्य को उसके ऊर्ध्वारोहण में सहायता देती है, ये उसके आध्यात्मिक सबधु है जो उसके साथ सखा, मित्र, बधु, सहयोगी (सखाय, युज, जामय) के रूप में बधे हुए है, क्योंकि जो उसकी अभीप्सा है वही उनकी अभीप्सा है और उसकी पूर्णता द्वारा वे परिपूर्ण होते है। जैसे अवरोधक शक्तिया सतुष्ट हो गयी है और उन्होंने रास्ता दे दिया है वैसे ही उनको भी सतुष्ट होकर अन्तत अपने उस कार्य की पूर्ति घोषित करनी चाहिये जो पूर्ति मानवीय आनद की पूर्णता द्वारा ससिद्ध हुई है। और तब आत्मा इन्द्र की शाति में विश्राम पायगी, जो शान्ति दिव्य प्रकाश के साथ आती है—इन्द्र की शाति अर्थात् उस पूर्णताप्राप्त मनोवृत्ति की शाति जो कि सपरिपूर्ण चेतना और दिव्य आनद की ऊचाइयो पर स्थित है। (मत्र ६)

इसलिये दिव्य आनद वेगयुक्त तथा तीव्र किया जाने के लिये आधार में उडेला गया है और इन्द्र को, उसकी तीव्रताओ में सहायक होने के

लिये, समर्पित कर दिया गया है। क्योकि आन्तरिक सवेदनो में अभिव्यक्त हुआ यही अगाध आनद है जो उस दिव्य परमानद को प्रदान करता है जिससे मनुष्य या देव सबल होता है। दिव्य प्रज्ञा अब समर्थ होगी कि वह अभी तक अपूर्ण रही अपनी यात्रा में आगे बढ सके और वह देव के मित्र के प्रति अवरोहण करती हुई आनद की नवीन शक्तियो के रूप में प्रतिदान करेगी। अर्थात् इन्द्र अब और आगे बढ सकेगा तथा सोमपान के बदले में सखा को ऊपर से आनेवाला आनद प्रदान कर सकेगा। (मन्त्र ७)

क्योकि यही बल था जिसको प्राप्त करके मनुष्यस्थ दिव्य मन ने उन सबको नष्ट किया था जो आच्छादक या अवरोधक होकर इसके सकल्प और विचार की शतगुणित प्रगतियो में बाधा डालते थे, इसी बल के द्वारा इसने बाद में उन भरपूर तथा विविध ऐश्वर्यों की रक्षा की जो पहले हुए युद्धो में, 'अत्रियो' और 'दस्युओ' से-अर्थात् उनसे जो अधिगत ऐश्वर्यों को हडप जाने और लूट लेनेवाले है-जीते जा चुके थे। (मन्त्र ८)

ऋषि मधुच्छन्दस् अपने कथन को जारी रखता हुआ आगे कहता है कि यद्यपि वह प्रज्ञा पहले से ही इस प्रकार सनृद्ध और विविधतया सभृत हुई हुई है तो भी हम अवरोधको को और वृत्रो को हटाकर इसकी समृद्धि की शक्ति को और अधिक वृद्धिगत करना चाहते है ताकि हमें निश्चिततया तथा भरपूर रूप में अपने ऐश्वर्यों की प्राप्तिया हो सकें। (मन्त्र ९)

क्योकि यह प्रकाश, अपनी सपूर्ण महत्ता की अवस्था में सीमा या बाधा से सर्वथा स्वतत्र यह प्रकाश, आनद का धाम है, यह शक्ति वह है जो मनुष्य के आत्मा को अपना मित्र बना लेती है और इसे युद्ध के बीच में से सुरक्षिततया पार कर देती है, यात्रा की समाप्ति पर, इसको अभीप्सा के अतिम प्राप्तव्य शिखर पर, पहुचा देती है। (मन्त्र १०)

तीसरा अध्याय

# इन्द्र और विचार-शक्तियां

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १७१

प्रति व एना नमसाहमेमि सूक्तेन भिक्षे सुमतिं तुराणाम्।
रराणता मरुतो वेद्याभिर्नि हेडो धत्त वि मुचध्वमश्वान् ॥१॥

(वः प्रति) तुम्हारे प्रति (एना नमसा) इस नमन के साथ (अहं एमि) मैं आता हूं, (सूक्तेन) पूर्ण शब्द के द्वारा (तुराणाम्) उनसे जो कि मार्गातिक्रमण में तीव्रगतिवाले हैं (सुमतिं भिक्षे) मैं सत्य मनोवृत्ति की याचना करता हूं। (मरुतः) हे मरुतो! (वेद्याभिः रराणत) ज्ञान की वस्तुओं में आनंद लो, (हेडः) अपने क्रोध को (निधत्त) एक तरफ रख दो, (अश्वान्) अपने घोड़ों को (विमुचध्वम्) खोल दो ॥१॥

एष वः स्तोमो मरुतो नमस्वान् हृदा तष्टो मनसा धायि देवाः।
उपेमा यात मनसा जुषाणा यूयं हि ष्ठा नमस इद् वृधासः ॥२॥

(मरुतः) हे मरुतो! (एष वः स्तोमः) देखो, यह तुम्हारा स्तोत्र है; (नमस्वान्) यह मेरे नमन से परिपूर्ण है, (हृदा तष्टः) यह हृदय द्वारा रचा गया था, (देवाः) हे देवो! (मनसा धायि) यह मन द्वारा धारण किया गया था, (इमाः उपयात) इन मेरे वचनों के पास पहुंचो (मनसा जुषाणाः) और इन्हें मन द्वारा सेवित करो; (हि) क्योंकि (यूयम्) तुम (नमसः) नमन के* (इद्) निश्चयपूर्वक (वृधासः ष्ठाः) बढ़ानेवाले हो ॥२॥

---

*सायण ने यहां सर्वत्र 'नमस्' का वही अपना प्रिय अर्थ 'अन्न' किया है; क्योंकि "प्रणाम के बढ़ानेवाले" यह अर्थ, स्पष्ट ही, नहीं हो सकता। इस संदर्भ से तथा अन्य कई संदर्भों से यह स्पष्ट है कि यह शब्द नमस्कार के भौतिक अर्थ के पीछे अपने साथ एक आध्यात्मिक अर्थ भी रखता है जो अर्थ कि यहां साफ तौर पर अपनी मूर्त प्रतिमा छोड़कर सामने आ गया है।

स्तुतासो नो मरुतो मृळयन्तूत स्तुतो मघवा शंभविष्ठः।
ऊर्ध्वा नः सन्तु कोम्या वनान्यहानि विश्वा मरुतो जिगीषा ॥३॥

(स्तुतासः मरुतः) स्तुति किये हुए मरुत (नः मृळयन्तु) हमें सुखप्रद हों (उत स्तुतः मघवा) स्तुति किया हुआ ऐश्वर्य का अधिपति [इन्द्र] तो (शंभविष्ठः) पूर्णतया सुख का रचयिता हो गया है। (नः कोम्या वनानि) हमारे वांछनीय आनंद* (ऊर्ध्वाः सन्तु) ऊपर की ओर उत्थित हो जायं, (मरुतः) हे मरुतो! (विश्वा अहानि) हमारे सब दिन (जिगीषा) विजयेच्छा के द्वारा (ऊर्ध्वाः सन्तु) ऊपर की ओर उत्थित हो जायं ॥३॥

अस्मादहं तविषादीषमाण इन्द्राद् भिया मरुतो रेजमानः।
युष्मभ्यं हव्या निशितान्यासन् तान्यारे चकृमा मृळता नः ॥४॥

(अस्मात् तविषाद् ईषमाणः) इस महाशक्तिशाली द्वारा अधिकृत हुए हुए (अहम्) मैंने (इन्द्राद् भिया रेजमानः) इन्द्र के भय से कांपते हुए, (मरुतः) हे मरुतो! (युष्मभ्यं हव्या निशितानि आसन्) जो हवियां तुम्हारे लिये तीव्र बनाकर रखी हुई थीं (तानि) उनको (आरे चकृम) दूर रख दिया है। (नः मृळत) हमपर कृपा करो ॥४॥

येन मानासश्चितयन्त उस्रा व्युष्टिषु शवसा शश्वतीनाम्।
स नो मरुद्भिर्वृषभ श्रवो धा उग्र उग्रेभिः स्थविरः सहोदाः ॥५॥

(येन) जिसके द्वारा (मानासः) मन की गतियां (व्युष्टिषु) हमारे प्रभातकालों में (शश्वतीनां शवसा†) शाश्वतिक उषाओं की प्रकाशमयी

---

*'वन' शब्द के दोनों अर्थ हैं "जंगल" और "सुखभोग" या विशेषण के रूप में लें तो "सुखभोग" के योग्य। वेद में प्रायः यह द्विविध अर्थ को लिये हुए आता है—हमारी भौतिक सत्ता की "सुखदायी वृद्धियां", रोमाणि पृथिव्या।

†वेद में सामर्थ्य, बल, शक्ति के लिये बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए हैं और उनमेंसे प्रत्येक अपने साथ एक विशेष सूक्ष्म अर्थभेद को रखता है।

शक्ति के द्वारा (चितयन्त) सचेतन और (उस्रा‡) प्रकाश से जगमगाती हुई हो जाती हैं (स वृषभ*) उस तूने हे गौओ के पति! (मरुद्भि:) मरुतो के साथ मिलकर (न श्रव धा) हमारे अदर अन्तःप्रेरित ज्ञान को निहित कर दिया है,—(उग्रेभि) उन बलशालियो के साथ मिलकर उस तूने जो कि (उग्र) बलशाली (स्थविर) स्थिर और (सहोदा) बलप्रदाता है ॥५॥

त्व पाहीन्द्र सहीयसो नॄन् भवा मरुद्भिरवयातहेडा ।

सुप्रकेतेभि सासहिर्दधानो विद्यामेष वृजन जीरदानुम् ॥६॥

(इन्द्र) हे इन्द्र! (त्वम) तू (सहीयस) वृद्धिगत बलवाली (नॄन्†) शक्तियों की (पाहि) रक्षा कर, (मरुद्भि अवयातहेडा भव) मरुतो के

---

'शवस्' शब्द प्राय शक्ति के साथ प्रकाश के अर्थ को भी देता है।

‡स्त्रीलिंग में 'उस्रा' यह शब्द 'गो' के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसके एक साथ दोनो अर्थ है, गाय और प्रकाश की किरण। 'उषा' भी गोमती है अर्थात् किरणो से परिवृत या सूर्य की गौओ से युक्त। मूल मत्र में 'उस्रा' के साथ मेल मिलाकर एक अर्थगर्भित प्रयोग किया गया है 'उस्रा व्युष्टिषु'; यह वैदिक ऋषियो द्वारा प्रयुक्त उन सामान्य प्रयोगों में से एक है जो ऐसे विचार या सबध को ध्वनित करते हैं जिसे ऋषि स्पष्ट तौर से खोल देना आवश्यक नहीं समझते।

*'वृषभ' का अर्थ है बैल, पुरुष, अधिपति या वीर्यशाली। इन्द्र को सतत रूप से 'वृषभ' या 'वृषन्' कहा गया है। कहीं यह शब्द अकेला स्वय प्रयुक्त हुआ होता है जैसे कि यहा, और कहीं इसके विधेय के तौर पर प्रयुक्त किसी दूसरे शब्द के साथ में, जो उसके साथ गौओ के विचार को ध्वनित करने के लिये आता है जैसे "वृषभ मतीनाम" अर्थात् 'विचारो का अधिपति'; जहा स्पष्ट ही बैल और गौओ का रूपक अभिप्रेत है।

†'नृ' शब्द का अर्थ प्रतीत होता है आरभ में क्रियाशील, वेगवान् या दृढ यह था। हमारे सामने 'नृम्ण' शब्द है जिसका अर्थ बल है, और

प्रति जो तेरा क्रोध है उसे दूर कर दे, (सासहि ) जो तू शक्ति में परिपूर्ण (सुप्रकेतेभिः) सत्य बोध से युक्त उन [मरुतों] के द्वारा (दधान ) धारण किया हुआ है। हम (वृजनम् इष विद्याम) उस प्रबल प्रेरणा को प्राप्त कर ले (जीरदानुम्) जो कि वेगपूर्वक बाधाओं को छिन्न भिन्न कर देनेवाली है ॥६॥

भाष्य

यह सूक्त इन्द्र और अगस्त्य के सवाद का उत्तरवर्ती सूक्त है और अगस्त्य की तरफ से कहा गया है। इसमें अगस्त्य मरुतो को मना रहा, प्रसन्न कर रहा है, क्योकि उसने उनके यज्ञ को शक्ततर देव (इन्द्र) के आदेश से बीच में रोक दिया था। अपेक्षाकृत कम प्रत्यक्ष रूप से विचार की दृष्टि से इस सूक्त का सबध इसी (पहले) मण्डल के १६५वे सूक्त के साथ है, यह १६५वा सूक्त इन्द्र और मरुतो का सवादरूप है, जिसमें स्वर्ग के अधिपति (इन्द्र) की सर्वोच्चता घोषित की गयी है और इन अपेक्षाकृत अल्प प्रकाशमान मरुतो को उसके अधीन शक्तिया स्वीकार किया गया है जो कि मनुष्यो को इन्द्र से सबधित उच्च सत्यो की तरफ प्रेरित करती है।

"इनके (मनुष्यो के) चित्रविचित्र प्रकाशवाले विचारो को अपने प्राण का बल देते हुए इनके अदर मेरे (मुझ इन्द्र के) सत्यो को ज्ञान में प्रेरित करनेवाले बन जाओ। जब कर्ता कर्म के लिये क्रियाशील हो जाय और विचारक की प्रज्ञा हमें उसके अदर रच दे तब, हे मरुतो! निश्चिततया तुम प्रकाशयुक्त द्रष्टा (विप्र) के प्रति गति करने लगो"*–ये है उस सवाद

---

'नृतमा नृणाम्' जिसका अर्थ है शक्तियो में सबसे अधिक शक्तिशाली। बाद में इसका अर्थ 'पुरुष' या 'मनुष्य' हो गया और वेद में यह प्राय उन देवो के लिये प्रयुक्त हुआ है जो कि पुरुष-शक्तिया है, जो प्रकृति की शक्तियो पर प्रभुत्व करती है, और जिनके मुकाबले में स्त्रीलिंगी शक्तिया है 'ग्ना' या 'गना'।

*...मन्मानि चित्रा अपिवातयन्त एषा भूत नवेदा म ऋतानाम् ॥
आ यद् दुवस्याद् दुवसे न कारुरस्माञ्चक्रे मान्यस्य मेधा।
ओ षु वर्त्त मरुतो विप्रमच्छ... (१.१६५ १३,१४)

के अंतिम शब्द, उन अल्पतर देवों (मरुतों) को दिया गया इन्द्र का अंतिम आदेश।

ये ऋचाएं पर्याप्त स्पष्ट तौर पर मरुतों के आध्यात्मिक व्यापार को निश्चित कर देती हैं, मरुत तत्त्वत विचार के देवता नहीं बल्कि शक्ति के देवता हैं, तो भी उन की शक्तियां सफल होती हैं मन के अंदर। साधारण अशिक्षित (अदीक्षित) आर्य पुजारी के लिये ये मरुत वायु, आंधी और वर्षा की शक्तियां थीं, ये आंधी-तूफान के ही रूपक हैं जो उनके लिये प्राय प्रयुक्त किये गये हैं और उन्हें 'रुद्र' अर्थात् उग्र, प्रचण्ड कहा गया है,—जो 'रुद्र' नाम मरुतों के साथ शक्ति के देवता अग्नि को भी दिया गया है। यद्यपि कहीं कहीं इन्द्र को मरुतों में ज्येष्ठ वर्णित किया गया है,—इन्द्रज्येष्ठो मरुद्गण,—तो भी पहले यही प्रतीत होगा कि ये अपेक्षया वायु के लोक से संबंध रखते हैं—वायु जो कि पवन देवता हैं, जो वैदिक संप्रदाय में जीवन का अधिपति हैं, प्राण नाम से वर्णित उस जीवन-श्वास या क्रियाशील बल का स्रोत और प्रेरक हैं जो कि मनुष्य के अंदर वातिक और प्राणमय क्रियाओं से द्योतित होता है। पर यह उनके स्वरूप का केवल एक भाग है। भ्राजिष्णुता, उग्रता से किसी भी प्रकार कम नहीं, उनकी विशेषता है। उनसे संबंधित प्रत्येक वस्तु तेजोयुक्त है, ये स्वयं, उनके चमकीले शस्त्रास्त्र, उनके स्वर्णिल आभूषण, उनके देदीप्यमान रथ सब भ्राजमान हैं। न केवल ये वर्षा को, जलों को, आकाशीय विपुल ऐश्वर्य को नीचे भेजते हैं, और नवीन प्रगतियों तथा नवीन निर्माणों के वास्ते मार्ग बनाने के लिये दृढ से दृढ वस्तुओं को तोड गिराते हैं, बल्कि अन्य देवों, इन्द्र, मित्र, वरुण की तरह जिनके साथ कि ये इन व्यापारों में सह-भागी होते हैं, ये भी सत्य के सखा हैं, प्रकाश के रचयिता हैं। इसी लिये ऋषि गोतम राहूगण उनसे प्रार्थना करता है —

> यूय तत्सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना। विध्यता विद्युता रक्ष ॥
> गूहता गुह्य तमो वि यात विश्वमत्रिणम्। ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥
>
> ऋग्० १.८६.९,१०

"सत्य के तेजोमय बल से युक्त मरुतो! अपनी शक्तिशालिता से तुम उसे अभिव्यक्त कर दो, अपने विद्युद्-वज्र से राक्षस को विद्ध कर दो। आवरण डालनेवाले अंधकार को छिपा दो, प्रत्येक भक्षक को दूर हटा दो, उस प्रकाश को रच दो जिसे हम चाह रहे हैं।"

और एक दूसरे सूक्त में अगस्त्य उन्हें कहता है—

नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उप क्रीडन्ति क्रीळा विदथेषु घृष्वयः।
१.१६६.२

"वे अपने साथ (आनंद के) माधुर्य को लिये हुए हैं, जैसे कि अपने शाश्वत पुत्र को लिये हों, और अपना खेल खेल रहे हैं, वे जो कि ज्ञान की क्रियाओं में तेजस्वी हैं।"

मरुत, इसलिये, शक्तियां हैं मनोवृत्ति की, ये वे शक्तियां हैं जो ज्ञान में सहायक होती हैं। स्थिरीभूत सत्य, प्रसुप्त प्रकाश उनमें नहीं है, उनके पास है गति, खोज, विद्युद्दीप्ति और जब सत्य प्राप्त हो जाता है तब उनके पृथक् पृथक् प्रकाशों का अनेकविध खेल।

हम देख चुके हैं कि अगस्त्य ने इन्द्र के साथ अपने संवाद में एक से अधिक बार मरुतों की चर्चा की है। उन्हें इन्द्र का भाई कहा है और यह कहा है कि इन्द्र को अगस्त्य पर जब कि वह पूर्णता के लिये संघर्ष कर रहा है, प्रहार नहीं करना चाहिये। उस पूर्णताप्राप्ति में मरुत उसके (इन्द्र के) उपकरण हैं, और क्योंकि ऐसा है इसलिये इन्द्र को उनका उपयोग करना चाहिये। और समर्पण तथा मैत्रीसंधान की अंत की उक्ति में अगस्त्य इन्द्र से प्रार्थना करता है कि तू फिर मरुतों के साथ संलाप कर और उनके साथ एकमत हो जा ताकि यज्ञ दिव्य सत्य की क्रिया और नियमक्रम में आगे उस तरफ चल सके जिस तरफ यह चलाया गया है। उस समय अगस्त्य के अंदर जो संकट पैदा हुआ था जिसने कि उसके मन पर ऐसा जबर्दस्त प्रभाव छोड़ा उसका स्वरूप एक उग्र संघर्ष का था, जिसमें कि उच्चतर दिव्य शक्ति (इन्द्र) ने अगस्त्य तथा मरुतों का सामना किया और उनकी रभसपूर्ण प्रगति का विरोध किया। इस अवसर पर

दिव्य प्रज्ञा (इन्द्र) जो कि विश्व पर शासन करती है, तथा अगस्त्य के मन की रभसपूर्ण अभीप्साशक्तियो (मरुतो) के बीच में परस्पर एक रोष तथा कलह चलता रहा। दोनो ही शक्तिया मानवसत्ता को अपने लक्ष्य पर पहुचाना चाहती हैं। पर उसकी यात्रा, प्रगति जैसा कि क्षुद्रतर दिव्य शक्तिया (मरुत) पसद करती है वैसे सचालित नहीं होनी चाहिये, बल्कि यह सचालित होनी चाहिये वैसे जैसे कि ऊपर की गुप्त दिव्य प्रज्ञा (जो कि अभिव्यक्तीकृत प्रज्ञा पर सदा अधिकार रखती है) ने दृढतया सकल्पित और निश्चित किया हुआ है। इसलिये मानवसत्ता (अगस्त्य) का मन बृहत्तर शक्तिया के लिये एक रणक्षेत्र बना रहा है और अभी तक वह अनुभूति के त्रास और भय से काप रहा है।

इन्द्र को समर्पण किया जा चुका है, अगस्त्य अब (इस सूक्त में) मरुतो से विनती कर रहा है कि वे मैत्री-सधान की शर्ते स्वीकार कर लें ताकि उसकी आन्तरिक जीवन की पूर्ण समस्वरता फिर से स्थापित हो जाय। यह उस समर्पण के साथ जो कि वह महान् देव (इन्द्र) को कर चुका है मरुतो के पास आता है और उसे (नमन को) उनके तेजोयुक्त सैन्य तक विस्तृत करता है। मानसिक अवस्था की तथा इसकी शक्तियों की पूर्णता जिसे अगस्त्य चाह रहा है, उनकी निर्मलता, सरलता, सत्यदर्शन की शक्ति तब तक सभव नहीं है जब तक उच्चतर ज्ञान के प्रति गमन करने में विचार शक्तियो (मरुतो) का तीव्र वेग न प्राप्त हो जाय। पर ज्ञान के प्रति वह गति जब गलत तरीके से चलायी गयी, समुचित प्रकार से प्रकाशमय नहीं हुई, तब वह इन्द्र के जबर्दस्त विरोध द्वारा रुक गयी है और कुछ समय के लिये अगस्त्य की मनोवृत्ति से पृथक् हो गयी है। इस प्रकार बाधा पाकर मरुत अगस्त्य को छोड अन्य यज्ञकर्ताओ के पास चले गये हैं, अब अन्यत्र ही उनके देदीप्यमान रथ चमकते हैं, अन्य क्षेत्रो में ही उनके वायुवेग घोडो के सुम वज्रनिर्घोष करते हैं। ऋषि उनसे प्रार्थना कर रहा है कि अपने रोष को एक तरफ रख दो, एक बार फिर ज्ञान के अनुसरण में और इसकी क्रियाओ में आनद लो,

अब और अधिक मुझे छोड़कर परे मत जाओ, अपने घोड़ों को खोल दो, यज्ञ के आसन पर अवतीर्ण हो जाओ और वहां अपना स्थान ग्रहण करो, हवियों के अपने भाग को स्वीकार करो (देखो, मंत्र १)।

वह फिर अपने अंदर इन शोभाशाली शक्तियों (मरुतों) को सुस्थित, दृढ़ करना चाहता है, और यह एक स्तोत्र है जो कि वह उनके प्रति अर्पित कर रहा है, वैदिक ऋषियों का 'स्तोम' है। रहस्यवादियों की पद्धति में, जो कि भारतीय योग के सम्प्रदायों में आंशिकतया बची हुई है, शब्द एक शक्ति है, शब्द रचना किया करता है। क्योंकि सारी ही रचना एक अभिव्यंजन है, उच्चारण है, प्रत्येक वस्तु पहले से ही असीम के गुह्य स्थान में विद्यमान है, गुहा हितम्, और वहां वह क्रियाशील चेतना द्वारा केवल व्यक्त रूप में लायी जाती है। वैदिक विचार के भी कुछ सम्प्रदाय लोकों को शब्द की देवी (वाग्देवी) द्वारा रचित हुआ मानते हैं और यह समझते हैं कि ध्वनि प्रथम आकाशीय स्पंदन के रूप में रचना की पूर्ववर्ती हुआ करती है। स्वयं वेद में ही ऐसे संदर्भ मिलते हैं जो पवित्र मंत्रों के कवितात्मक छन्दों—अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती, गायत्री—को उन छन्दों व स्वरों का प्रतीकभूत कहते हैं जिनमें वस्तुओं की विश्वव्यापी गति ढाली गयी है।

तो शब्दोच्चारण द्वारा हम रचना करते हैं और मनुष्यों के लिये तो यह भी कहा गया है कि वे मंत्र द्वारा अपने अंदर देवों को रचित करते हैं। फिर, उसे जिसे हमने अपनी चेतना के अंदर शब्द द्वारा रचा है, हम वहां शब्द द्वारा सुस्थापित भी कर सकते हैं कि वह हमारी आत्मा का अंग बन जाय और न केवल हमारे आन्तरिक जीवन में बल्कि बाह्य भौतिक जगत् पर भी प्रभाव डालनेवाला हो जाय। उच्चारण द्वारा हम रचते हैं, स्तोत्र द्वारा स्थापित करते हैं। उच्चारण की एक शक्ति के तौर पर शब्द को 'गीः' या 'वचस्' नाम दिया जाता है; स्तोत्र की शक्ति के तौर पर 'स्तोम'। दोनों ही रूपों में इसे 'मन्म' या 'मंत्र' और 'ब्रह्म' यह नाम दिया गया है, 'मन्म' या 'मंत्र' का अर्थ है मन के अंदर विच-

का व्यक्तीकरण और 'ब्रह्म' का अर्थ है हृदय या आत्मा का व्यक्तीकरण। (क्योंकि 'ब्रह्मन्' शब्द का प्रारंभिक अर्थ यही रहा प्रतीत होता है, बाद में यह परमात्मा या विराट् सत्ता के लिये प्रयुक्त होने लगा।)

मत्र के निर्माण की पद्धति दूसरी ऋचा में वर्णित की गयी है और इसकी फलसाधकता के लिये जो आवश्यक शर्तें हैं वे भी यहा बता दी गयी हैं। अगस्त्य मरुतो को स्तोम अर्पित करता है, जो एक साथ स्तुति और समर्पण दोनों का स्तोत्र है। हृदय द्वारा रचा गया यह स्तोम, मन द्वारा सपुष्ट होकर मनोवृत्ति के अदर अपने समुचित स्थान को प्राप्त करता है। मत्र यद्यपि मन के अदर विचार को अभिव्यक्त करता है तथापि यह अपने तात्त्विक अश में बुद्धि की रचना नहीं है। पवित्र तथा फलोत्पादक शब्द होने के लिये आवश्यक है कि मत्र अन्त प्रेरणा के रूप में अतिमानस लोक से, जिसे वेद में 'ऋतम्' अर्थात् सत्य नाम दिया गया है, आया हो और या तो हृदय द्वारा या प्रकाशमयी प्रज्ञा, मनीषा द्वारा बाह्य चेतना के अदर गृहीत हुआ हो। हृदय, वैदिक अध्यात्मविज्ञान में, भावावेशो के स्थान तक ही सीमित नहीं है; यह स्वत प्रवृत्त मनोवृत्ति के, हमारे अदर अवचेतन के अधिक से अधिक समीप पहुचे हुए उस सारे विशाल प्रदेश को समाविष्ट किये हुए है, जिसमें से सवेदन, भावावेश, सहजज्ञान, आवेग उठते हैं और वे सब अन्तर्ज्ञान तथा अन्त प्रेरणाए उठती है जो कि प्रज्ञा में ठीक रूप में पहुचने से पहले इन उपकरणों में से गुजरकर आती है। यह है वेद और वेदान्त का "हृदय", जिसके वाचक शब्द वेद में 'हृदय', 'हृद्' या 'ब्रह्मन्' है। उस हृदय के अदर, मनुष्य की जैसी वर्तमान अवस्था है उसमें, 'पुरुष' केंद्रभूत होकर आसीन हुआ माना गया है। अवचेतन की विशालता के समीप, उस हृदय में, सामान्य मनुष्य के अदर—उस मनुष्य के जो कि अभी तक उन्नत होकर उस उच्च लोक तक नहीं पहुचा है जहा कि असीम के साथ सपर्क प्रकाशमय और घनिष्ठतायुक्त तथा साक्षात् हो जाता है—विराट् आत्मा की अन्त-प्रेरणाए अधिकतम आसानी के साथ अदर प्रविष्ट हो सकती है और

अत्यधिक तीव्रता के साथ व्यक्तिगत आत्मा पर अधिकार पा सकती है। इसलिये यह हृदय की शक्ति द्वारा ही होता है कि मंत्र रचित होता है। परंतु इस मंत्र को हृदय के बोध में ही नहीं किंतु साथ ही मन (प्रज्ञा) के विचार में भी ग्रहण करना तथा धारण करना होता है, क्योंकि वह विचार का सत्य जिसे शब्द या सत्य अभिव्यक्त करता है तब तक दृढता-पूर्वक अधिगत नहीं किया जा सकता या तब तक सामान्यत फलसाधक नहीं हो सकता जब तक कि प्रज्ञा इसे ग्रहण नहीं कर लेती बल्कि अडे की तरह उसे से नहीं लेती। हृदय द्वारा विरचित होकर यह मन द्वारा सुस्थित किया जाता है।

पर एक और अनुमोदन भी अपेक्षित है। वैयक्तिक मन ने स्वीकृति दे दी है, विश्व की फलसाधक शक्तियों को भी स्वीकृति मिलनी चाहिये। मन द्वारा धारण किये गये स्तोत्र के शब्दो ने एक नवीन मानसिक स्थिति के लिये आधार को सुरक्षित कर दिया है जिसमेंसे भविष्य में आनेवाली विचार-शक्तियों ने प्रकट होना है। मरुतों को आवश्यक तौर पर उन (स्तोत्र के शब्दो) के पास पहुचना चाहिये तथा उनको अपना आधार बनाना चाहिये, इन विराट् शक्तिया का जो मन है उसे व्यक्तिगत मन की रचनाओ को स्वीकृति देनी चाहिये तथा उनके साथ अपने आपको जोडना चाहिये। केवल इसी तरह हमारी आन्तरिक या हमारी बाह्य क्रिया अपनी उच्च फलसाधकता को प्राप्त कर सकती है।

न ही मरुतों के पास कोई कारण है कि क्यों वे अपनी अनुमति देने से इन्कार करें या अपने विरोध को और लबे काल तक जारी रखने पर आग्रह करें। दिव्य शक्तिया जो स्वयमेव व्यक्तिगत आवेग की अपेक्षा एक उच्चतर नियम का पालन करती है, यह उनका कार्य होना चाहिये, जैसा कि यह उनका नैसर्गिक स्वभाव है, कि वे मर्त्य को बाध्य करें कि वह अमर के प्रति अपना समर्पण कर दे और सत्य को, उस बृहत की आज्ञा-पालकता को अपने अदर बढाये जिसके प्रति उसकी मानवीय शक्तिया अभीप्सा कर रही है (देखो, मंत्र २)।

इन्द्र स्तुत और स्वीकृत हो चुकने के बाद अब मर्त्य के साथ अपने संसर्ग में कष्टप्रद नहीं रहा है, दिव्य सत्पर्श अब पूर्णतया शाति और सुख का सृजन करनेवाला हो गया है। मरुतो को भी, स्तुत और स्वीकृत हो जाने पर, अपनी हिंसा को एक तरफ रख देना चाहिये। अपने सौम्य रूपो को धारण करके, अपनी क्रिया में सुखप्रद होकर, आत्मा को कष्ट तथा बाधाओं के बीच में से न ले जाते हुए, उन्हे भी प्रबल के साथ साथ विशुद्ध रूप से उपकारशील सहायक बन जाना चाहिये।

इस पूर्ण समस्वरता के स्थापित हो चुकने पर, अगस्त्य का याग विजय के साथ अपने लिये निर्दिष्ट किये हुए नवीन तथा सरल मार्ग पर चल पडेगा। लक्ष्य सर्वदा यह है कि हम जहा है यहा से चढकर एक उच्चतर स्तर पर पहुच जाय,–उस स्तर पर जो कि विभक्त तथा अहभावपूर्ण संवेदन, भावावेश, विचार और क्रिया के सामान्य जीवन की अपेक्षा उच्चतर है। और यह उत्थान सर्वदा इसी प्रबल सकल्प से अनुसृत होना चाहिये कि उन सबपर जो विरोध करते है तथा मार्ग में रुकावट डालते हैं हमें विजय प्राप्त करनी है। पर यह होना चाहिये सर्वाङ्गीण उत्थान। सब सुख (वनानि) जिन्हें मनुष्य पाना चाहता है और मनुष्य की जागृत चेतना की–वेद की सक्षिप्त प्रतीकात्मक भाषा में कहें तो उसके 'दिनों' की–सभी क्रियाशील शक्तिया उस उच्च स्तर तक उठ जानी चाहियें। 'वनानि' से अभिप्रेत हैं वे ग्रहणशील सवेदन जो कि सब बाह्य विषयो में आनद को प्राप्त करना चाहते है, जिस आनद के अन्वेषण के लिये ही उनकी सत्ता है। ये सवेदन भी बहिष्कृत नहीं हो रखे गये हैं। किसी का भी वर्जन नहीं करना है, सबको दिव्य चेतना के विशुद्ध धरातलों तक उठा ले जाना है (देखो, मन्त्र ३)।

पहले अगस्त्य ने मरुतो के लिये दूसरी अवस्थाओ में हवि तैयार की थी। उसके अदर जो कुछ भी था जिसे वह इन विचार शक्तियो (मरुतो) के हाथो में रख देना चाहता था उस सबको उसने इसके लिये खोल दिया था कि मरुत उसमे अपनी गर्भित शक्ति का पूर्णतम उपयोग कर

सके, पर उसकी हवि में दोष होने के कारण मध्य-मार्ग में ही उसके सामने एक बड़ा शक्तिशाली देव (इन्द्र) शत्रु के तौर पर आ पहुंचा था और केवल भय तथा महान् कष्ट के पश्चात् ही अगस्त्य की आखें खुली थीं और उसके आत्मा ने समर्पण कर दिया था। अब तक भी उस अनुभूति के भावोद्वेगो से काप रहा, वह बाध्य कर दिया गया था कि उन क्रियाओ का अब वह परित्याग कर दे जिन्हें उसने ऐसी प्रबलता के साथ तैयार किया था। पर अब वह फिर मरुतों को हवि देने लगा है, किंतु अब की बार उसने उस शानदार नाम के साथ और भी अधिक प्रबल 'इन्द्र के देवत्व' को जोड लिया है। तो मरुतो को चाहिये कि वे उस पहली हवि में भग पडने के लिये रोष न करें, बल्कि इस नवीन और अपेक्षाकृत अधिक उचित तौर पर सुझाये गये कर्म को स्वीकार कर ले (देखो, मत्र ४)।

अगस्त्य अतिम दो ऋचाओं में मरुतो से हटकर इन्द्र के अभिमुख होता है। मरुत मानवीय मनोवृत्ति के प्रगतिशील प्रकाश के प्रतिनिधि हैं, जब तक कि मन की गतिया अपनी प्रथम धुधली गतियो से, जो कि ठीक अभी अवचेतन के अधकार में से बाहर निकली हैं, उस प्रकाशमयी चेतना की प्रतिमा में रूपातरित नहीं हो जातीं जिस चेतना का 'इन्द्र' पुरुष है, प्रतिनिध्यात्मक सत्ता है। धुधलेपन से निकल वे (मन की गतिया) सचेतन हो जाती हैं, सध्याकालीन जैसे अल्प प्रकाश से प्रकाशित, अर्ध-प्रकाशित या भ्रातिजनक प्रतिबिंबो में परिणत हुई अवस्था से ऊपर उठ वे इन अपूर्णताओ को अतिक्रान्त कर जाती हैं और दिव्य ज्योति को धारण कर लेती हैं। यह इतना बडा विकास काल में क्रमश सिद्ध होता है, मानवीय आत्मा के प्रभातो में, उषाओ के अविच्छिन्न क्रमिक आगमन के द्वारा सिद्ध होता है। क्योकि उषा वेद में मनुष्य की भौतिक चेतना में दिव्य प्रकाश के नूतन आगमनो की प्रतीकभूत देवी है। वह अपनी बहिन रात्रि के साथ बारी बारी से आया करती है, परतु वह स्वय अधकारमयी भी प्रकाश की एक जननी है और सर्वदा उषा उसे ही प्रकट

करने आया करती है जिसे इस काली भौंओवाली माता (रात्रि) ने तैयार कर रखा होता है। तो भी यहां ऋषि सतत उषाओं का वर्णन करता प्रतीत होता है, इन प्रतीयमान विश्राम के और अंधकार के व्यवधानों से विच्छिन्न उषाओं का नहीं। क्रमागत प्रकाशों के उस सातत्य से संभूत दीप्यमान शक्ति के द्वारा मनुष्य की मनोवृत्ति तीव्रतासहित आरोहण करती हुई पूर्णतम प्रकाश को पा लेती है। पर हमेशा वह बल, जिसने इस रूपांतर को संभव बनाया है और इसका अधिष्ठाता है, इन्द्र का पराक्रम है। यह (इन्द्र) वह परम प्रज्ञा है जो उषाओं के द्वारा, मरुतों के द्वारा, अपने आपको मनुष्य के अंदर उंडेल रही है। इन्द्र है प्रकाशमयी गौओं का वृषभ, विचार-शक्तियों का स्वामी, प्रकाशमान उषाओं का अधिपति।

अब भी चाहिये कि इन्द्र मरुतों को प्रकाशप्राप्ति के लिये अपने उपकरण के तौर पर प्रयुक्त करे। उनके द्वारा वह द्रष्टा के अतिमानस ज्ञान को प्रतिष्ठित करे। उनकी (मरुतों की) शक्ति द्वारा मानवीय स्वभाव के अंदर उसकी (इन्द्र की) शक्ति प्रतिष्ठित होगी और वह (इन्द्र) उस मानवस्वभाव को अपनी दिव्य स्थिरता, अपनी दिव्य शक्ति प्रदान कर सकेगा, ताकि वह (मानवस्वभाव) आघातों से लड़खड़ा न जाय या प्रबल क्रियाशीलता की बृहत्तर क्रीड़ा को जो कि हमारी सामान्य क्षमता के मुकाबले में अत्यधिक महान् है, धारण करने में विफल न हो जाय (देखो, मंत्र ५)।

मरुत इस प्रकार शक्ति में प्रबलीभूत होकर सदा उच्चतर शक्ति के पथप्रदर्शन और रक्षण की अपेक्षा करेंगे। वे हैं पृथक् पृथक् विचार-शक्तियों के पुरुष, इन्द्र है इकट्ठा सब विचार-शक्तियों का एक पुरुष। उस (इन्द्र) में वे (मरुत) अपनी परिपूर्णता तथा अपनी समस्वरता को पाते हैं। तो अब इस समुदायी (इन्द्र) तथा इन अंगों (मरुतों) के बीच कलह और विरोध नहीं रहना चाहिये। मरुत इन्द्र को स्वीकार करके, उससे उन वस्तुओं के उचित बोध को पा लेंगे जिनका जानना अभीष्ट

होगा। ये आत्मिक प्रकाश की चमक द्वारा जाने में नहीं पड़ेंगे या लेकिन शक्ति से भग्न होकर लक्ष्य से बहुत दूर नहीं जा पड़ेंगे। ये इस योग्य हो जायेंगे कि वे इन्द्र की क्रिया को धारण किये रख सकें, जब कि वह (इन्द्र) उन सबके विरोध में अपनी शक्ति लगाता है जो कि अब भी आत्मा और आत्मा की सम्पूर्णता के बीच में बाधक होकर खड़े हो सकते हैं।

इस प्रकार इन दिव्य शक्तियों की, तथा इनसे अभीप्साओं की, सम्भावना में मानवीयता उस प्रेरणा को पा सकेगी जो कि इस जगत् के महत्वों विरोधों को तोड़ फोड़ डालने में पर्याप्त सफल होगी और यह मानवीयता, संघटित व्यक्तित्ववाले व्यक्ति में या जाति में, सत्वर उस लक्ष्य की तरफ प्रवृत्त हो जायगी जिस लक्ष्य को ज्ञानी तो निरन्तर मिला करते हैं पर तो भी जो उस तक के लिये दूरस्थ है जिसे अपने संबंध में यह प्रतीत होने लगा है कि मैंने तो लक्ष्य को लगभग पा ही लिया है (देखो, मन्त्र ६)।

चौथा अध्याय

# अग्नि, प्रकाशपूर्ण संकल्प

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त ७७

कथा दाशेमाग्नये कास्मै देवजुष्टोच्यते भामिने गीः।
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत् कृणोति देवान् ॥१॥

(कथा अग्नये दाशेम) कैसे अग्नि को हम हवि दें? (का देवजुष्टा गीः) कौनसा देव-स्वीकृत शब्द (भामिने अस्मै) देदीप्यमान ज्वाला के अधिपति इस [अग्नि] के लिये (उच्यते) बोला जाता है? (मर्त्येषु अमृतः) मर्त्यों में अमर (ऋतावा) सत्य से युक्त (यजिष्ठः होता) यज्ञ का साधकतम होता (यः) जो अग्नि (देवान् कृणोति इत्) देवों को विरचित कर देता है ॥१॥

यो अध्वरेषु शंतम ऋतावा होता तमू नमोभिरा कृणुध्वम्।
अग्निर्यद् वेर्मर्ताय देवान्त्स चा बोधाति मनसा यजाति ॥२॥

(यः) जो अग्नि (अध्वरेषु होता) यज्ञों में होता है (शंतमः) शांति से परिपूर्ण है (ऋतावा) सत्य से परिपूर्ण है (तम् उ) उसको तुम अवश्य (नमोभिः) अपने समर्पणों द्वारा (आकृणुध्वम्) अपने अंदर रचो; (यद् अग्निः) जब अग्नि (मर्ताय) मर्त्य के लिये (देवान् वेः) देवों को अभिव्यक्त* करता है, तब (स बोधाति च) वह उनका बोध भी रखता है, और (मनसा यजाति) मन द्वारा उनका यजन करता है, उन्हें हवि प्रदान करता है ॥२॥

स हि क्रतुः स मर्यः स साधुर्मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः।
तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीर्विश उप ब्रुवते दस्ममारीः ॥३॥

(हि) क्योंकि (स क्रतुः) वह संकल्प है (स मर्यः) वह बलरूप है (स साधुः) वह पूर्णता को सिद्ध करनेवाला है, वह (मित्रः न) मित्र की

*या "देवान् वेः—देवों के अंदर प्रविष्ट होता है।"

तरह (अद्भुतस्य रथीः भूत्) परम सत्ता का रथी हो जाता है। (तं प्रथमं) उस सर्वप्रथम के प्रति (मेधेषु) समृद्धियुक्त यज्ञों में (देवयन्तीः विशः) देवत्व को चाहनेवाली प्रजाएं (उपब्रुवते) शब्द को उच्चारित करती हैं,-(दस्मम्) उस परिपूर्ण करनेवाले के प्रति, (आरीः) ये प्रजाएं जो कि आर्य हैं॥३॥

स नो नृणा नृतमो रिशादा अग्निर्गिरोऽवसा वेतु धीतिम्।
तना च ये मघवान. शविष्ठा-वाजप्रसूता इषयन्त मन्म॥४॥

(नृणां नृतमः) शक्तियो में सबलतम और (रिशादा) विनाशकों को हड़प जानेवाला (स अग्निः) वह अग्नि (अवसा) अपनी उपस्थिति के द्वारा (गिरः) शब्दों को, और (धीतिम्) उनके विचार को ,(वेतु) अभिव्यक्त कर दे,† (ये च) और वे जो (तना) अपने विस्तार से (मघवानः) ऐश्वर्य के अधिपति, तथा (शविष्ठाः) सबसे अधिक बलशाली हैं (वाजप्रसूताः [स्युः] ) 'अपने ऐश्वर्य को बिखेरनेवाले हो जायं, और (मन्म इषयन्त) विचार को अपनी अन्त प्रेरणा देवे॥४॥

एवाग्निर्गोतमेभिर्ऋतावा विप्रेभिरस्तोष्ट जातवेदाः।
स एषु द्युम्नं पीपयत् स वाजं स पुष्टिं याति जोषमा चिकित्वान्॥५॥

(एवा) इस प्रकार (ऋतावा अग्निः) सत्य से युक्त अग्नि (गोतमेभिः) गोतमों-प्रकाश के स्वामियों‡-द्वारा (अस्तोष्ट) स्तुत किया गया है, (जातवेदा.) वह लोको को जाननेवाला अग्नि (विप्रेभिः) विप्रों-निर्मलमनो-द्वारा [स्तुत किया गया है]। (स एषु) वह इन [गोतमो

---

†या "गिरः धीतिं वेतु=शब्दों में तथा विचार में प्रविष्ट हो जाय।"

‡यदि बाहरी अर्थ ले तो 'गोतमेभिः' का अर्थ होगा इस सूक्त का द्रष्टा जो गोतम राहूगण ऋषि है उसके परिवार के व्यक्तियो द्वारा। परंतु हम निरंतर देखते है कि मंत्रो में जहां ऋषियों के नाम प्रयुक्त किये गये हैं वहां साथ ही उनके अर्थ को बतानेवाले गूढ़ संकेत भी रख दिये गये हैं। इस सदर्भ में 'गोतमेभि र्ऋतावा, विप्रेभिर्जातवेदाः' इस प्रकार शब्दों को

या विप्रों] के अंदर (द्युम्नं पोपयत्) प्रकाश की शक्ति को पोषित करेगा, (स वाजम्) वह समृद्धि को [पोषित करेगा]; (चिकित्वान् सः) बोध-युक्त वह [अपने बोधों द्वारा] (पुष्टिं) पुष्टि को, और (जोषम्) सम-स्वरता को (आयाति) प्राप्त करेगा ॥५॥

## भाष्य

गोतम राहूगण इस सूक्त का ऋषि है, सूक्त अग्नि की स्तुति में गाया गया है, अग्नि है दिव्य संकल्प जो कि विश्व में कार्य कर रहा है।

'अग्नि' वैदिक देवों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, सबसे अधिक व्यापक है। भौतिक जगत् में वह सामान्य भक्षक और उपभोक्ता है। साथ ही वह पवित्रकर्ता भी है, जब वह भक्षण करता है और उपभोग करता है तब भी वह पवित्रकर्ता है। यह वह आग है जो तैयार करती है और पूर्णता लाती है; साथ ही यह वह अग्नि है जो सात्म्य करती है और वह शक्ति की उष्णता है जो रूप बनाती है। यह जीवन की उष्णता है और वस्तुओं में रस को, अर्थात् उनकी तात्त्विक सत्ता के सार को और उनके आनंद के सार को उत्पन्न करती है।

इसी तरह वह प्राण का भी संकल्प है, क्रियाशील जीवन-शक्ति है, और उस शक्ति के रूप में भी वह उन्हीं व्यापारों को करती है। भक्षण और उपभोग करती हुई, पवित्रीकरण करती हुई, तैयार करती हुई, सात्म्य करती हुई, रूप बनाती हुई वह सदा ऊपर की तरफ उठती है और अपनी शक्तियों को 'मरुतो', मन-शक्तियों, के रूप में परिणत कर देती है। हमारे मनोविकार और धुंधले भावावेग इस अग्नि के ज्वलन

---

जोड़कर रखने से 'गोतम' कौन है इसकी एक असंदिग्ध व्याख्या निकल आती है, अर्थात् गोतम विप्र ही है और कोई नहीं। जैसे कि इसी सूक्त की तीसरी ऋचा में 'तं प्रथमं देवयन्ती, दस्मम् आरीः' इस प्रकार की शब्दयोजना से यह स्वयमेव व्याख्यात हो जाता है कि आर्य प्रजाएं वे हैं जो कि 'देवयन्तीः' हैं।

का धुआं है। केवलमात्र इसी का अवलंब पाकर हमारी सब वात-शक्तियां अपनी क्रिया करने में निश्चितता पाती है।

यदि वह (अग्नि) हमारी प्राणमय सत्ता में स्थित सकल्प है और क्रिया के द्वारा इसे (प्राण को) पवित्र करता है, तो वह साथ ही मन में स्थित सकल्प भी है और अभीप्सा के द्वारा मन को निर्मल करता है। जब वह बुद्धि के अंदर प्रविष्ट होता है तब वह अपने दिव्य जन्मस्थान और घर के समीप आ रहा होता है। वह विचारो को फलसाधक शक्ति की तरफ ले जाता है; वह क्रिया करती हुई शक्तियो को प्रकाश की तरफ ले जाता है।

उसका दिव्य जन्मस्थान और घर,—यद्यपि वह सर्वत्र ही जन्मा हुआ है और सभी वस्तुओं में निवास करता है,—सत्य है, असीमता है, वह बृहत् विराट् प्रज्ञा है जहा ज्ञान और शक्ति आकर एक हो जाते है। क्योंकि वहां समस्त सकल्प वस्तुओं के सत्य के साथ समस्वर होकर रहता है और इसलिये फलसाधक होता है; समस्त विचार उस प्रज्ञा का अंशभूत होकर रहता है जो कि दिव्य नियम है, और इसलिये दिव्य क्रिया को पूर्णरूपेण नियमित करनेवाला होता है। 'अग्नि' चरितार्थता को प्राप्त करके अपने स्वकीय घर में—सत्य में, ऋत में, बृहत् में—शक्तिमान् हो जाता है। वहीं पहुंचाने के लिये वह (अग्नि) मनुष्यजाति की अभीप्सा को, आर्य की आत्मा को, विराट् यज्ञ के मूर्धा को ऊपर की तरफ ले जा रहा है।

जब कि महान् अतिक्रमण किये जाने की, मन से अतिमानस में संक्रान्ति की, बुद्धि के—जो कि अब तक मनोमय सत्ता की नेत्री बनी हुई थी—एक दिव्य प्रकाश में रूपांतरित हो जाने की, प्रथम संभावना होने लगी उस क्षण में,—जब कि वैदिक योग के बीच में आनेवाला ऐसा यह अति गंभीर और कठिन समय आया उस समय, ऋषि गोतम राहूगण, अपने अंदर अन्तःप्रेरित शब्द को लाना चाह रहा है। वह शब्द उसे तथा अन्यों को उस शक्ति के अनुभव करने में सहायता देगा जो शक्ति अवश्य-

मेघ उस संक्रान्ति को कर देगी और प्रकाशमान समृद्धि की उस अवस्था को ला देगी जिससे कि यह रूपातर-कार्य प्रारंभ हो सकेगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो वैदिक यज्ञ एक प्रतीक है उस विराट् तथा व्यक्तिगत क्रिया का जो स्वतःसचेतन, प्रकाशमान तथा अपने लक्ष्य से अभिज्ञ हो गयी है। विश्व की सारी प्रक्रिया अपने स्वरूप से ही एक यज्ञ है, यह स्वेच्छापूर्वक किया जाय या अनिच्छापूर्वक। आत्मोत्सर्ग करने से आत्मपूर्णता की प्राप्ति, त्याग करने से वृद्धि, यह एक विश्वव्यापक नियम है। जो आत्मोत्सर्ग करने से इन्कार करता है, तो भी वह विश्व की शक्तियों का ग्रास तो बनता ही है। "खानेवाला भोक्ता स्वयं भी खाया जाता है"* यह एक अर्थपूर्ण और भीषण उक्ति है, जिसमें उपनिषद् ने विश्व के इस रूप को संगृहीत कर दिया है, और एक दूसरे संदर्भ में मनुष्यों को देवों के पशु† कहा गया है। जब इस नियम को पहचान लिया जाता है और स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है तभी—केवल तभी—इस मृत्यु के राज्य को पार किया जा सकता है तथा यज्ञ (त्याग) के कर्मों द्वारा अमरता संभव बनायी तथा प्राप्त की जा सकती है। इसके लिये मानवीय जीवन की सभी शक्तियां तथा संभाव्यताएं, यज्ञ के प्रतीक रूप में, विश्व के दिव्य जीवन के प्रति उत्सर्ग कर दी जाती हैं।

ज्ञान, बल और आनंद ये दिव्य जीवन की तीन शक्तियां हैं; विचार और विचार-जनित रचनाएं; संकल्प और संकल्प-जनित कार्य, प्रेम और प्रेम-जनित समस्वरताएं ये उनके अनुरूप तीन मानवीय क्रियाएं हैं जिन्हें ऊपर

---

*अहमन्नम्, अन्नमदन्तमद्मि। तै. ३.१०.६

†"प्राणं देवा अनुप्राणन्ति, मनुष्याः पशवश्च ये।" तै. २.३—अर्थात् देव प्राण के आधार से ही जीते हैं और वे मनुष्य भी प्राण से ही जीवित हैं जो कि देवों के पशु हैं।

उठाकर दिव्य स्तर तक पहुंचाया जाना है। सच और झूठ, प्रकाश और अंधकार, वैचारिक उचितता और अनुचितता के द्वंद्व हैं ज्ञान की गड़बड़ें जो कि अहंकार-रचित विभाग से पैदा होती हैं; अहंकार-जनित प्रेम और घृणा, सुख और दु:ख, हर्ष और पीड़ा के द्वंद्व प्रेम की गड़बड़ें हैं, आनंद के विकार हैं; सबलता और निर्बलता, पाप और पुण्य, कर्मण्यता और अकर्मण्यता के द्वंद्व संकल्प की गड़बड़ें हैं जो कि दिव्य बल को बिखेरनेवाली हैं। और ये सब गड़बड़ें इसलिये उठती हैं, और यहां तक कि हमारी क्रिया की आवश्यक अंग बन जाती हैं, क्योंकि दिव्य जीवन की ये त्रिविध शक्तियां (ज्ञान, बल, प्रेम), अज्ञान के कारण जो कि विभक्त करनेवाला है, एक दूसरे से अलग हो जाती हैं–ज्ञान तो बल से, प्रेम दूसरे दोनों (बल और ज्ञान) से। यह अज्ञान है, प्रबल विश्वव्यापक मिथ्यात्व है, जिसे हटाया जाना है। तो सत्य के द्वारा ही वास्तविक समस्वरता का, अखण्ड सौख्य का, दिव्य आनंद के अंदर प्रेम की अंतिम कृतार्थता या परिपूर्णता का मार्ग खुल सकता है। इसलिये जब मनुष्य के अंदर का संकल्प दिव्य तथा सत्य से अभिव्याप्त, अमृत. ऋतावा, हो जाता है केवल तभी वह पूर्णता, जिसकी तरफ हम अग्रसर हो रहे हैं, मानवजाति के अंदर सिद्ध की जा सकती है।

तो 'अग्नि' वह देव है जिसे मर्त्य के अंदर सचेतन होना है।' उसे ही अन्त:प्रेरित शब्द ने अभिव्यक्त करना है, इस द्वारवाले प्रासाद (मंदिर) में और इस यज्ञ की वेदी पर सुप्रतिष्ठित करना है।

"किस प्रकार अग्नि को हम हवि दें?" ऋषि पूछता है। देने के लिये यहां जो शब्द 'दाशेम' प्रयुक्त हुआ है उसका शाब्दिक अर्थ है 'बांटें'; इसका एक गूढ़ संबंध विवेक अर्थ में आनेवाली 'दश' धातु से भी है। वस्तुतः यज्ञ एक उपकल्पन या विभाजन है, मानवीय क्रियाओं और सुखोपभोगों को उन विभिन्न विराट् शक्तियों के लिये बांटना है, जिनके कि क्षेत्र में वे (मानवीय क्रियाएं और सुखोपभोग) उनके अधिकार से ही आते हैं। इसी लिये वेदमंत्रों में बार बार देवों के भाग का उल्लेख

आता है। यज्ञकर्ता के सामने समस्या यह होती है कि वह अपने कर्मों की उचित व्यवस्था कैसे करे, उनका उचित विभाग कैसे करे, क्योंकि यज्ञ हमेशा नियम तथा दिव्य विधान (ऋतु; बाद के साहित्य में जिसे 'विधि' नाम दिया गया है) के अनुसार ही होना चाहिये। उचित व्यवस्था करने का संकल्प होना ही, मर्त्य के अदर उच्च नियम तथा सत्य का शासन हो जाय इसके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण तैयारी है।

इस समस्या का हल निर्भर करता है उचित उपलब्धि पर और उचित उपलब्धि प्रवृत्त होती है सच्चे आलोक देनेवाले शब्द से, उस अन्त-प्रेरित विचार की अभिव्यक्ति से जो (विचार) द्रष्टा के पास 'बृहत्' से आता है। इसलिये आगे ऋषि पूछता है, "कौनसा शब्द अग्नि के प्रति उच्चारित किया जाता है?" कौनसा स्तुत्यात्मक शब्द, कौनसा उपलब्धिकारक शब्द? दो शर्तें पूरी होनी आवश्यक हैं। पहली यह कि वह शब्द अन्य दिव्य शक्तियो से स्वीकृत होना चाहिये, अर्थात्, यह इस स्वरूप का होना चाहिये कि उस अनुभूति की संभाव्यता को खोल देता हो या उस अनुभूति के प्रकाश को अपने अदर रखता हो जिसके द्वारा दिव्य, कार्यकर्ता (अर्थात् देव) अपने अपने व्यापारो को मानवीयता की बहिःस्थ चेतना के अंदर अभिव्यक्त करने के लिये तथा यहा अपने उन व्यापारो में खुले तौर पर लगे रहने के लिये प्रेरित किये जा सके। और दूसरी यह कि वह (शब्द) 'अग्नि' के, देदीप्यमान ज्वाला के इस देवता के, द्विविध स्वरूप को प्रकाशित करनेवाला होना चाहिये। 'भाम' के दोनो अर्थ हैं, ज्ञान का प्रकाश और कर्म की ज्वाला। 'अग्नि' एक ज्योति भी है और एक शक्ति भी।

शब्द आता है। यो मर्त्येषु अमृत ऋतावा। 'अग्नि' विशेष रूप से मर्त्यों में अमर है। यह अग्नि ही है जिसके द्वारा असीमता के अन्य प्रकाशमान पुत्र परमदेव के आविर्भाव और आत्म-विस्तार (देववीति, देवताति) को-जो कि विराट् तथा मानवीय यज्ञ का उद्देश्य भी है और उसकी पद्धति भी है-सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। क्योंकि 'अग्नि' है

वह दिव्य सकल्प जो सदा सब वस्तुओ में उपस्थित है, सदा विनाश कर रहा और रच रहा है, सदा निर्माण कर रहा और पूर्ण कर रहा है, विश्व की जटिल प्रगति को सदा सहारा दे रहा है। यही है जो सब मृत्यु और परिवर्तन के बीच स्थिर बना रहता है। यह शाश्वतिक तौर पर और अविच्छेद्य रूप में सत्य-युक्त है। प्रकृति के अतिम धुधलेपन में, भौतिकता की निम्नतम प्रज्ञाशून्यता में, यह सकल्प ही है जो छिपा हुआ ज्ञान है तथा जो इन सब अधकारपूर्ण गतियो को, यन्त्रचालित की तरह, दिव्य नियम के अनुसार चलने के लिये तथा उनकी प्रकृति का जो सत्य है उसका अनुवर्तन करने के लिये बाध्य करता है। यही है जो बीज के अनुसार वृक्ष को उगाता है और प्रत्येक कर्म को उचित फल से युक्त करता है। मनुष्य के अज्ञान के अन्धकार में,–जो भौतिक प्रकृति के अधकार की अपेक्षा कम है तो भी उससे अधिक बडा है,–यही दिव्य सकल्प है जो शासन करता है और पथप्रदर्शन करता है, उसकी अधता के अभिप्राय को तथा उसकी पथभ्रष्टता के उद्देश्य को जानता है और उसके अदर विराट् मिथ्यात्व की जो कुटिल क्रियाए हो रही है उनमेंसे विराट् सत्य की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति को विकसित करता जाता है। भास्वर देवो में अकेला यह ही है जो बडी चमक के साथ प्रज्वलित होता है और जो रात्रि के अधकार में भी वैसे ही पूर्ण आलोक (दर्शनशक्ति) से युक्त रहता है, जैसे कि दिन को जगमगाहटो में। अन्य देव है 'उप-र्बुध', उषा के साथ जागनेवाले।

इसलिये वह होता (हवि देनेवाला ऋत्विज) है, यज्ञ के लिये सबलतम या सबसे अधिक योग्य है, वह जो कि, सर्वशक्तिमान् होता हुआ, सर्वदा सत्य के नियम का अनुसरण करता है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि 'हव्य' हमेशा 'कर्म' के अर्थ को देता है तथा मन या शरीर का प्रत्येक कर्म यह समझा गया है कि वह विराट् सत्ता और विराट् इच्छा के अदर अपने प्रचुर ऐश्वर्य में से उत्सर्ग करना है। अग्नि, दिव्य सकल्प, वह है जो हमारे कर्मों में हमारे मानवीय सकल्प के पीछे खडा रहता है।

जब हम सचेतन होकर हवि देते हैं तब वह सामने आ जाता है; यह वह ऋत्विज है जो सम्मुख निहित किया हुआ (पुरो-हित) है, हवि को पथप्रदर्शित करता है और इसकी फलोत्पादकता का निर्णायक होता है।

इस स्वत.परिचालित सत्य द्वारा, इस ज्ञान द्वारा जो कि विश्व में एक निर्भ्रांत सकल्प के रूप में कार्य कर रहा है, यह मर्त्यों के अंदर देवों को रच देता है।'अग्नि मृत्यु से परिवेष्टित शरीर के अदर देवत्व की संभाव्यताओ को आविर्भूत कर देता है; 'अग्नि' उन (संभाव्यताओ) को समर्थ वास्तविक रूप तथा परिपूर्ति (सिद्धि) प्राप्त करा देता है। वह हमारे अंदर अमर देवो के जाज्वल्यमान रूपो को रच देता है। (मंत्र १)

इस कार्य को वह इस रूप में करता है कि वह एक विराट् शक्ति है जो विद्रोह करनेवाली मानवीय सामग्री पर क्रिया करती है, तब भी जब कि हम अपने अज्ञान में ग्रस्त होकर ऊर्ध्वमुखी अन्त.प्रेरणा का प्रतिरोध करते जाते हैं और, अपने कर्मों को अहंकारपूर्ण जीवन के प्रति समर्पित करने के अभ्यस्त होने के कारण, अब तक भी दिव्य समर्पण को करने के लिये तैयार नहीं होते या अभी तक कर नहीं सकते। पर अग्नि स्वयं हमारे अंदर विरचित हो जाय यह उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में हम अपने अहंभाव को दमन करना सीखते हैं और यह सीखते हैं कि प्रत्येक कार्य में इस अहभाव को विराट् सत्ता के आगे झुकने के लिये बाध्य करें और कार्य की छोटी से छोटी क्रियाओं में सचेतन होकर इसे दिव्य सकल्प के सिद्ध करने में लगावे। इस प्रकार दिव्य सकल्प मानवीय मन के अदर उपस्थित तथा सचेतन हो जाता है और इसे दिव्य ज्ञान से आलोकित कर देता है। इसी प्रकार वह अवस्था प्राप्त की जाती है जिसपर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य ने अपने परिश्रम द्वारा महान् देवो को रचा।

संस्कृत का शब्द जो यहां प्रयुक्त हुआ है वह है 'आ कृणुध्वम्'। 'कृणुध्वम्' मे पहले जो 'आ' उपसर्ग भी लगा है वह इस विचार को देता है कि बाहर की किसी वस्तु को अपने पर खींच लाना है और अपनी स्वकीय चेतना के अंदर लाकर उसे घड़ना है या विरचित करना है।

'आ-कृ' अपने व्यतिक्रमित 'आ-भू' प्रयोग के अनुरूप है, 'आ-भू' प्रयुक्त होता है उस अवस्था को बताने के लिये जब कि देव अमरता के सस्पर्श के साथ मर्त्य के पास आते हैं और, देवता के दिव्य रूप के मानवता के रूप पर पडने से, वे उस (मर्त्य) के अदर "होते हैं" "बनते हैं", आकृति पाते हैं। विराट् शक्तिया विश्व में क्रिया करती हैं और विद्यमान रहती हैं, मनुष्य उनको अपने पर लेता है, अपनी स्वकीय चेतना में उनकी एक प्रतिमा बनाता है और उस प्रतिमा को उस जीवन तथा शक्ति से समन्वित करता है, जो जीवन और शक्ति सर्वोच्च सत्ता ने अपने निज के दिव्य रूपो के अदर तथा विश्वशक्तियो के अदर फके हैं*।

जब इस प्रकार जैसे घर में 'घर का मालिक'† रहता है उस रूप में 'अग्नि' मर्त्य के अदर उपस्थित तथा सचेतन हो जाता है तब वह अपनी दिव्यता के वास्तविक स्वरूप में प्रकट होता है। जब हम अधकाराच्छन्न होते हैं और सत्य व नियम से अभिद्रोह कर रहे होते हैं तब हमारी प्रगति एक अज्ञान से दूसरे अज्ञान में ठोकरें खाती हुई प्रतीत होती है और दुःख तथा विघ्न से भरपूर होती है। सत्य के प्रति सतत समर्पणो द्वारा, नमाभि, हम अपने अदर दिव्य सकल्प की उस प्रतिमा को रचते हैं जो इसके विपरीत शाति से परिपूर्ण है, क्योकि यह निश्चित रूप में सत्य व नियम से युक्त है। आत्मा की समरूपता‡ जो कि विश्वव्यापी प्रज्ञा के प्रति समर्पण द्वारा रचित हुई है, हमें एक निरतिशय शाति और निवृति प्रदान करती है। और क्योकि वह प्रज्ञा सत्य के सरल मार्ग में रखे गये हमारे सब कदमो की पथप्रदर्शक होती है, इसलिये इसकी सहायता से हम सब स्खलनो (दुरितानि) से पार हो जाते हैं।

---

*हिन्दू प्रतिमापूजा का यही वास्तविक आशय और यही वास्तविक कल्पना है, जिसमें इस प्रकार महान् वैदिक प्रतीकों को भौतिक रूप दे दिया गया है।

†गृहपति, और 'विश्पति' भी, अर्थात् प्राणियो में स्वामी या राजा।

‡गीताप्रोक्त 'समता'।

इसके अतिरिक्त, जब अग्नि हमारी मानव-सत्ता के अंदर सचेतन हो जाता है तो उसके साथ यह भी होता है कि हमारे अंदर जो देवों की रचना हो रही है वह एक वास्तविक प्रकट वस्तु बन जाती है, परदे के पीछे हो रही वस्तु नहीं रहती। हमारे अंदर का संकल्प बुद्धिगत होते हुए देवत्व के प्रति सचेतन हो जाता है, इनकी रचना की पद्धति के प्रति जागृत हो जाता है, इस रचना की दिशाओं को अनुभव करने लगता है। मानवीय कर्म बुद्धिपूर्वक संचालित होता हुआ और विश्वशक्तियों के प्रति अर्पित हुआ हुआ तब कोई यन्त्रवत् परिचालित, अनिच्छापूर्वक दी गयी या अपूर्ण हवि नहीं रहता है, विचारशील और निरीक्षणशील (द्रष्टा) मन भी तब भाग लेने लगता है और उस यज्ञिय संकल्प का उपकरण बन जाता है। (मंत्र २)

अग्नि सचेतन सत्ता की शक्ति है, जिस शक्ति को हम 'संकल्प' नाम से पुकारते हैं, वह संकल्प जो मन तथा शरीर के व्यापारों के पीछे क्रिया करता है। अग्नि हमारे अंदर रहनेवाला वह सबल (मर्य, मजबत, पुरुष) देव है जो अपने बल को सब आक्रामक शक्तियों के विरोध में लगाता है, जो जड़ता को रोकता है, जो हृदय की और शक्ति की प्रत्येक असमर्थता को दूर करता है, जो पुरुषत्व की सब न्यूनताओं को निकाल बाहर करता है। अग्नि उसे वास्तविक रूप दे देता है, सिद्ध कर देता है जो उसके बिना एक असिद्ध अभीप्सा या निष्फल विचार बना रहता। वह याग का कर्ता (साधु) है, अपनी भट्ठी पर काम करता हुआ वह दिव्य शिल्पी हथौड़े की चोटें लगा लगाकर हमारी पूर्णता को रच देता है। यहां उसे कहा गया है कि वह परम सत्ता का रथी बनता है। वह परम और अद्भुत जो गति करता है और अपने आपको "अन्य की चेतना के अंदर"* सिद्ध करता है (यहां वही शब्द 'अद्भुत' प्रयुक्त हुआ है, जो कि

*देखो, ऋग्वेद १।७० जिसकी व्याख्या इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में आ चुकी है।

इन्द्र और अगस्त्य के संवाद में आ चुका है), क्रिया की लगामों को पकडनेवाले रथीरूपी इस शक्ति (अग्नि) से ही अपनी उस गति को संचालित करता हैं। मित्र भी, जो कि प्रेम तथा प्रकाश का देवता हैं, ऐसा ही एक रथी है। क्योंकि प्रेम, जब प्रकाशमय हो जाता है तो वह समस्वरता को पूर्ण (सिद्ध) कर देता हैं जो कि दिव्य क्रिया का लक्ष्य है। पर साथ में संकल्प तथा प्रकाश के इस देवता (अग्नि) की शक्ति भी अपेक्षित है। शक्ति और प्रेम जब मिल जाते हैं और ये दोनों ज्ञान की ज्योति से आलोकित होते हैं तब जगत् में परम देव को पूर्ण (सिद्ध) कर देते हैं।

संकल्प सर्वप्रथम आवश्यक वस्तु है, मुख्य वास्तविक रूप देनेवाली शक्ति है। इसलिये जब मर्त्यजाति सचेतन होकर महान् लक्ष्य की तरफ मुह मोडती है और, अपनी समृद्धता प्राप्त शक्तियो को द्यौ के पुत्रों के लिये समर्पित करती हुई, अपने अंदर दिव्यता को रचने का यत्न करती है तब प्रथम और मुख्य अग्नि ही हैं जिसके प्रति वह (मर्त्य-जाति) सिद्धि-दायक विचार को उत्थापित करती है, सर्जनकारी शब्द को निर्मित करती है। क्योंकि वे हैं आर्य जो इस कर्म को करते हैं तथा इस प्रयत्न को स्वीकार करते है-कर्म जो सब कर्मों में वृहत्तम है, प्रयत्न जो सब प्रयत्नों में महत्तम है,-और वह (अग्नि) है वह शक्ति जो दिव्य क्रिया का आलिंगन करती है और उस क्रिया द्वारा कार्य को परिपूर्ण करती है। वह क्या आर्य है जो दिव्य संकल्प से, अग्नि से रहित है, उस अग्नि (संकल्प) से जो श्रम को तथा युद्ध को स्वीकार करता है, काम करता और जीतता है, कष्ट सहन करता और विजय प्राप्त करता है? (मंत्र ३)

इसलिये यह संकल्प ही है जो उन सब शक्तियो को उच्छिन्न कर डालता है जो प्रयत्न को विनष्ट करने में लगी होती है, यही है जो सब दिव्य शक्तियों में सबलतम है, जिसमें परम पुरुष ने अपने आपको प्रति-रूपित किया हुआ है, इसलिये उसे चाहिये कि वह इन मनुष्यरूपी पात्रो में अपनी उपस्थिति प्रदान करे। यहा यह मन को यज्ञ के उपकरण के

तौर पर प्रयुक्त करेगा और अपनी उपस्थिति मात्र से उन अन्तःप्रेरित सिद्धिदायक शब्दों को अभिव्यक्त कर देगा जो कि मानो ऐसे रथ हैं जो देवों के सचार के लिये रचे गये हैं, और उस विचार को जो कि ध्यान-शील है आलोकित कर देनेवाली वह समग्र प्रदान करेगा जो कि दिव्य शक्तियों के रूपों को इसके लिये प्रवृत्त कर देगी कि वे हमारी जागृत चेतना के अदर अपनी बाह्य रेखा को बना ले।

उसके बाद वे अन्य शक्तिशाली देव जो उच्चतर जीवन के ऐश्वर्यों को अपने साथ लाते हैं,—इन्द्र और अश्विनौ, उषा और सूर्य, वरुण और मित्र और अयमा,—अपने आपके उस रचनात्मक विस्तार के साथ मनुष्य के अदर अपने तेजस्वितम बलों को धारण कर ले। वे अपने ऐश्वर्य को, हमारी सत्ता के गुह्य स्थानों से बरसाकर, हमारे अदर रख दें इस प्रकार कि वे (ऐश्वर्य) हमारे दिन की तरह प्रकाशमान प्रदेशों में उपयोग में लाये जा सके और उनकी प्रेरणाएं दिव्योकारक विचार को ऊपर दिव्य मन में सचालित करती जाय जब तक कि वह (विचार) अपने आपको उच्च दीप्तियों में रूपातरित न कर दे। (मत्र ४)

इस पाचवे मत्र के साथ सूक्त समाप्त होता है। इस प्रकार, अन्तः-प्रेरित शब्दों में, दिव्य सकल्प, अग्नि, गोतमों के पवित्र गानों द्वारा स्तुत किया गया है। ऋषि अपने नाम को और अपने वश के नाम को एक प्रतीक शब्द के तौर पर प्रयुक्त कर रहा है, इसमें "प्रकाशमान" के अर्थ में आनेवाला वैदिक 'गो' शब्द विद्यमान है, और 'गोतम' का अर्थ है "पूर्णत प्रकाशयुक्त"। जो प्रकाशपूर्ण प्रज्ञा के प्रचुर ऐश्वर्य को धारण कर लेते हैं (गोतम बन जाते हैं) उन्हीं के द्वारा दिव्य सत्य का स्वामी (अग्नि) समग्र रूप से प्राप्त किया जा सकता है तथा इस लोक में, जो कि एक अपेक्षाकृत क्षुद्र रश्मि का लोक है, स्तुत और सुस्थित किया जा सकता है,—गोतमेभिर्ऋतावा। और जिनके मन शुद्ध है, निर्मल और खुले हैं, जो 'विप्र' है, उन्हीं में महान् जन्मो का, जात लोकों का सत्य ज्ञान उदित हो सकता है, जो (जात) लोक इस भौतिक लोक के पीछे छिपे

रहते हैं और जिनमें से यह (भौतिक लोक) अपने बलों को प्राप्त करता और धारण करता है,–विप्रेभिर्जातवेदाः।

अग्नि 'जातवेदस्' है, जात को अर्थात् 'जन्मों, जात (उत्पन्न) लोकों को जाननेवाला है। वह पूर्ण रूप से पांचो लोकों* को जानता है, अपनी चेतना में वह इस सीमित और पराश्रित भौतिक समस्वरता तक ही सीमित नहीं है। वह तीन सबसे उच्चतम अवस्थाओं† में, रहस्यमयी गौ‡ के ऊधस् में, चार सींगों वाले बैल§ के विपुल ऐश्वर्य में भी प्रवेश रखता है। उस विपुल ऐश्वर्य में से वह इन 'आर्य' अन्वेषको के अंदर प्रकाश को पोषण प्रदान करेगा, उनकी दिव्य शक्तियों की प्रचुरता को परिवर्धित करेगा। अपने प्रकाशमय बोधों की उस परिपूर्णता और प्रचुरता के द्वारा वह विचार से विचार को, शब्द से शब्द को, जोड़ता जायगा, जब तक कि मानवीय प्रज्ञा इतनी समृद्ध और समस्वर न हो जायगी कि वह सहार सके और दिव्य विचार बन जाय। (मंत्र ५)

---

*वे लोक जिनमें क्रमशः भौतिक तत्त्व, प्राण-शक्ति, मन, सत्य और आनद सारभूत शक्तियां हैं। वे क्रम से भूः, भुवः, स्वः, महस् और 'जन या मयस्' कहे जाते हैं।

†दिव्य सत्ता, चैतन्य, आनंद,–सच्चिदानंद।

‡अदिति, असीम चेतना, लोको की माता।

§दिव्य पुरुष, सच्चिदानंद; तीन उच्चतम अवस्थाएं और चौथा सत्य मे उसके चार सींग हैं।

पाचवा अध्याय

# सूर्य सविता, रचयिता और पोषक

ऋग्वेद, मण्डल ५, सूक्त ८१

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥१॥

(विप्राः) प्रकाशपूर्ण मनुष्य (मनः युञ्जते) अपने मन को योजित करते हैं (उत धियः युञ्जते) और अपने विचारों को योजित करते हैं, उस [सविता] के प्रति (विप्रस्य) जो प्रकाशपूर्ण है (बृहतः) जो विशाल है, और (विपश्चितः) जो स्पष्ट विचारवाला है। (वयुनावित्) सब दृश्यों को जाननेवाला, वह (एकः इत्) अकेला ही (होत्रा विदधे) यज्ञ की शक्तियों को क्रम में स्थापित कर देता है। (मही) महान् है (सवितुः देवस्य) सविता देव की, दिव्य रचयिता की (परिष्टुतिः) सब वस्तुओं में व्याप्त स्तुति ॥१॥

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति ॥२॥

(कविः) वह द्रष्टा (विश्वा रूपाणि) सब रूपों को (प्रति मुञ्चते) अपने में धारण करता है, और वह उनसे (द्विपदे चतुष्पदे) द्विगुण और चतुर्गुण सत्ता के लिये (भद्रं प्रासावीत्) भद्र को रचता है (सविता) वह रचयिता (वरेण्यः) वह परम वरणीय (नाकं वि-अख्यत्) द्यौ को पूर्णतः अभिव्यक्त कर देता है, और (उषसः प्रयाणम् अनु) जब वह उषा के प्रयाण का अनुसरण करता है तब (विराजति) सबको अपने प्रकाश से व्याप्त कर लेता है ॥२॥

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना ॥३॥

(यस्य प्रयाणम् अनु) जिसके प्रयाण के पीछे पीछे (अन्ये देवाः इत्) अन्य देव भी (ओजसा) उसकी शक्ति के द्वारा (देवस्य महिमानं ययुः) दिव्यता की महिमा को पा लेते हैं। (यः) जो वह (महित्वना) अपनी महिमा से (पार्थिवानि रजांसि) पार्थिव प्रकाश के लोकों को (विममे) माप डालता है, (स देव. सविता) वह दिव्य रचयिता है, (एतशः) बड़ा तेजस्वी है ॥३॥

उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि।
उत रात्रीमुभयतः परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः ॥४॥

(उत) और (सवितः) हे सविता देव! तू (त्रीणि रोचना) तीन प्रकाशमान लोकों में (यासि) पहुचता है; (उत) और तू (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की किरणों द्वारा (समुच्यसि) सम्यक्तया व्यक्त किया गया है; (उत) और तू (रात्रीम्) रात्रि को (उभयतः) दोनों पार्श्वों से (परीयसे) घेरे हुए है; (उत) और (धर्मभिः) अपने कर्मों के नियमों द्वारा, तू (देव) हे देव! (मित्रः भवसि) प्रेम का अधिपति होता है ॥४॥

उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभि.।
उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे ॥५॥

(उत त्वम् एकः इत्) और तू अकेला ही (प्रसवस्य ईशिषे) प्रत्येक रचना करने के लिये शक्तिमान् है (उत देव) और हे देव! (यामभिः) गतियों द्वारा तू (पूषा भवसि) पोषक बनता है; (उत) और तू (इदं विश्वम् भुवनं) सम्भूतियों के इस संपूर्ण जगत् को (विराजसि) पूर्णतया प्रकाशित करता है। (श्यावाश्वः) श्यावाश्व ने (सवित.) हे सवितः! (ते स्तोमम् आनशे) तेरे स्तोम को प्राप्त कर लिया है ॥५॥*

*अनुवाद मुहावरेदार और साहित्यिक हो तथा मूल में जो आशय और एकलयता है वह अनुवाद में ठीक वैसे ही आ जायं इसके लिये संस्कृत के शब्दों को आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तित कर लेने की स्वतंत्रता अपेक्षित है। इसलिये मैंने इन संस्कृत के वाक्यांशों का अधिक शाब्दिक अनुवाद अपने भाष्य में (यहां मंत्रार्थ में न देकर) दिया है।

## भाष्य

'इन्द्र' अपने चमकीले गणों (मरुतो) सहित, और आर्य के यज्ञ को परिपूर्ण करनेवाला दिव्य शक्ति 'अग्नि'—ये दोनों वैदिक सप्रदाय के सबसे महत्त्वपूर्ण देव हैं। अग्नि से आरभ होता है और अग्नि पर ही समाप्ति होती है। यही सकल्पाग्नि, जो ज्ञानरूप भी है, मनुष्य के अमरता को लक्ष्य रखकर किये जानेवाले ऊर्ध्वमुख प्रयत्न का प्रारभ करनेवाला है, इसी दिव्य चेतना को, जो कि दिव्य शक्ति भी है, हम अमर्त्य सत्ता के मूल आधार के तौर पर अत में पहुचते है। और इन्द्र स्वर्लोक का अधिपति, हमारा मुख्य सहायक है, जो वह प्रकाशमान प्रज्ञा है जिसमें कि हमने अपनी धुधली भौतिक मनोवृत्ति को रूपातरित कर देना है ताकि हम दिव्य चेतना को प्राप्त करने के योग्य हो जाय। इन्द्र और मरुत हैं जिनके द्वारा यह रूपातर सिद्ध होता है। मरुत हमारी पाशविक चेतना को, जो कि प्राण-मन के आवेगों से बनी होती है, पकडते है, इन आवेगों को अपने प्रकाशों से समन्वित करते है और इन्हें सत्ता की पहाडी पर स्व के लोक की तरफ तथा इन्द्र के सत्यो की तरफ हाक ले जाते हैं। हमारा मानसिक उत्क्रमण इन "पशुओं से आरभ होता है, ज्यों ज्यो हम आरोहण में प्रगति करते है, ये पशु सूर्य के जगमगाते पशु, 'गाव', किरणें, वेद की दिव्य गौएं, बन जाते हैं। यह है वैदिक प्रतीक-वर्णना का आध्यात्मिक तात्पर्य।

लेकिन, तो फिर यह सूर्य कौन है जिससे कि ये किरणें निकलती है? वह सत्य का अधिपति है, आलोकप्रदाता—'सूर्य'—है, रचयिता—'सविता'—है, पुष्टिदायक—'पूषा'—है। उसकी किरणें अपने स्वरूप में स्वत प्रकाश ज्ञान (Revelation) की, अन्त प्रेरणा (Inspiration) की, अन्तर्ज्ञान (Intuition) की, प्रकाशपूर्ण विवेक (luminous discernment) की अतिमानस क्रियाए है और ये चारो मिलकर उस सर्वातिशायी तत्त्व की क्रिया को बनाती है जिसे वेदात 'विज्ञान' कहता है और जिसे, वेद में 'ऋतम्', दिव्य 'सत्य' कहा गया है। परतु ये किरणें मानवीय

मनोवृत्ति के अंदर भी अवतरित होती है तथा इसके ऊर्ध्वप्रदेश में प्रकाशमय प्रज्ञा के लोक को, 'स्व.' को, जिसका इन्द्र अधिपति है, निर्मित करती है।

क्योंकि यह 'विज्ञान' एक दिव्य शक्ति है, कोई मानवीय शक्ति नहीं। मनुष्य का मन स्वत प्रकाश सत्य से निर्मित हुआ हुआ नहीं है, जैसा कि दिव्य मन होता है; यह तो एक इन्द्रियाधिष्ठित मन है जो सत्य को ग्रहण कर तथा समझ तो सकता है, पर सत्य के साथ एकरूप नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान के प्रकाश ने कुछ इस तरह से अपने को परिवर्तित करके हमारी इस मानवीय बुद्धि (समझ) के अदर आना है जिससे इस (ज्ञानप्रकाश) के रूप हमारी भौतिक चेतना की क्षमताओं और सीमाओं के उपयुक्त हो सके। और इसे यह करना है कि यह हमारी मानवीय बुद्धि को क्रमशः आगे ले जाकर उसके वास्तविक स्वरूप तक पहुंचा दे, हमारे अदर मानसिक विकास के लिये उत्तरोत्तर आनेवाली उत्कर्ष की अवस्थाओं को अभिव्यक्त करता जाय। इस प्रकार सूर्य की किरणें, जब कि वे हमारी मानसिक सत्ता को निर्मित करने के लिये यत्न करती है, मनोवृत्ति के तीन क्रमिक लोको को रचती है जो कि एक दूसरे के ऊपर स्थित होते है,—एक तो सवेदनात्मक, सौंदर्यलक्षी और भावप्रधान मन, दूसरा विशुद्ध बुद्धि, तीसरा दिव्य प्रज्ञा। मन के इन त्रिविध लोको की परिपूर्णता और सपन्नता सत्ता के केवल विशुद्ध मानसिक लोक‡ में निवास करती है, जहां वे (लोक) तीनों आकाशो, तिस्रो दिव, से ऊपर उनकी तीन रोचनाओ, त्रीणि रोचनानि, के रूप में जगमगाते है। पर उनका प्रकाश भौतिक चेतना पर अवतरित होता है और इसके लोकों में, वेदोक्त

---

† समझ या बुद्धि के लिये वैदिक शब्द है 'धी' अर्थात् वह जो कि ग्रहण करती है और यथास्थान धारण करती है।

‡ स्पष्ट ही हमारी सत्ता का स्वाभाविक लोक भौतिक चेतना है, पर अन्य लोक भी हमारे लिये खुले है क्योंकि हमारी सत्ता का अश उनमेंसे प्रत्येक में रहता है।

'पार्थिवानि रजांसि', प्रकाश के पार्थिव लोकों में, तदनुरूप रचनाओं को बनाता है। ये पार्थिव लोक भी त्रिगुण हैं, तिस्र पृथिवी, तीन पृथिवियां। और इन सब लोकों का सविता सूर्य रचयिता है।

इन विविध आध्यात्मिक स्तरों, जिनमेंसे प्रत्येक को एक स्वतन्त्र लोक माना गया है, के रूपक में हमें वैदिक ऋषियों के विचारों की एक कुंजी मिल जाती है। मानव-व्यक्ति सत्ता की एक संगठित इकाई है जो विश्व के रचनाविधान को प्रतिबिंबित करती है। यह अपने अंदर उसी अवस्था-क्रम को और उसी शक्तियों के खेल को दोहराती है। मनुष्य अधिकरण होकर सब लोकों को अपने अंदर रखे हुए है, और आधेय होकर वह सब लोकों में रखा हुआ है। सामान्यतः ऋषि अमूर्त की अपेक्षा मूर्त रूप में, वर्णन को अधिक पसंद करते हैं, और इसलिये भौतिक चेतना को वे भौतिक लोक-भूः, पृथिवी-के नाम से वर्णित करते हैं। विशुद्ध मानसिक चेतना को वे 'द्यौ' नाम से कहते हैं, जिस द्यौ का 'स्वः' अर्थात् प्रकाशमान मन ऊर्ध्वप्रदेश है। मध्यस्थ क्रियाशील, प्राणमय या वातिक चेतना को वे या तो *अन्तरिक्ष, अर्थात् अन्तराल में दिखायी देनेवाला, या* 'भुवः' नाम देते हैं,-जो 'अन्तरिक्ष' या 'भुवः' वे विविध क्रियामय लोक हैं जो पृथिवी के निर्मापक होते हैं।

क्योंकि ऋषियों के विचार में लोक मुख्य रूप से तो चेतना की रचना है, वस्तुओं की भौतिक रचना यह केवल गौण रूप से है। लोक 'लोक' है, वह एक प्रकार है जिसमें सचेतन सत्ता अपने आपको निरूपित करती है, कल्पित करती है। और लोक के रूपों का रचयिता है कारणात्मक सत्य, जिसे कि यहां सविता सूर्य नामक देवता द्वारा प्रकट किया गया है। क्योंकि यह असीम सत्ता के अंदर रहनेवाला कारणात्मक विचार ही है,-विचार जो कि कोई निर्वस्तुक नहीं किंतु वास्तविक और क्रियामय है,-जो नियम का, शक्तियों का, वस्तुओं की रचनाओं का तथा उनकी संभाव्यताओं के निश्चित रूपों में तथा निश्चित प्रक्रियाओं द्वारा कार्यरूप में परिणत होने का मूल स्रोत होता है। चूंकि यह कारणात्मक विचार सत्ता

की एक वास्तविक शक्ति है इसलिये इसे सत्यम्, अस्तित्व में सच्चा, कहा गया है, चूंकि यह सब क्रियाशीलता तथा रचना का निश्चायक सत्य है इसलिये इसे ऋतम्, गति में सच्चा, कहा गया है, चूंकि यह अपनी आत्म-दृष्टि में, अपने क्षेत्र में तथा अपनी क्रिया में विस्तीर्ण और असीम है इसलिये इसे बृहत्, विशाल या विस्तृत, कहा गया है।

सविता सत्य द्वारा रचयिता है, पर रचयिता इन अर्थों में नहीं जैसे कि कृत्रिम तौर पर कुछ बनाया जाता है या मशीन से कुछ वस्तुएं तैयार की जाती हैं। सविता शब्द में जो धातु है उसका अर्थ है अंदर से धकेलना, आगे प्रेरित कर देना या बाहर को निकालना,--इसमें रचना के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले सामान्य शब्द 'सृष्टि' का भाव भी है,--और इस प्रकार यह उत्पत्ति के अर्थ को देती है। धारणात्मक विचार की क्रिया कृत्रिम तौर पर निर्माण नहीं करती बल्कि तपस् द्वारा, अपनी स्वकीय सत्ता पर चेतना के दबाव द्वारा, उसे ही अभिव्यक्त कर देती है जो इसके अंदर छिपा हुआ है, जो संभाव्य रूप में अप्रत्यक्ष पड़ा है और जो सत्य रूप में पहले से ही परात्पर के अंदर विद्यमान है।

होता यह है कि भौतिक जगत् की शक्तियां और प्रक्रियाएं, जैसे कि प्रतीक में, उस अतिभौतिक क्रिया के सत्यों को दोहराती हैं जिस (अति-भौतिक) क्रिया द्वारा इस (भौतिक जगत्) का जन्म हुआ है। और चूंकि हमारा आन्तरिक जीवन और इसका विकास उन्हीं शक्तियों से और उन्हीं प्रक्रियाओं से शासित होता है जो कि भौतिक और अतिभौतिक लोकों में एक सी हैं, इसलिये ऋषियों ने भौतिक प्रकृति की घटनाओं को ही आन्तर जीवन के व्यापारों के लिये प्रतीक रूप से स्वीकार कर लिया और यह उनका एक कठिन कार्य हो गया कि वे उन आन्तर जीवन के व्यापारों का एक ऐसी पवित्र कविता की मूर्त्त भाषा में वर्णन करें जो कि साथ ही देवों को इस दृश्य जगत् की शक्तियां मानकर की जानेवाली बाह्य पूजा के प्रयोजन को भी सिद्ध करे। सौर बल (भौतिक सूर्य की शक्ति) सूर्य देवता का ही भौतिक रूप है, जो देवता प्रकाश और सत्य

का अधिपति है, यह इस सत्य द्वारा ही होता है कि हम अमरता को प्राप्त कर पाते हैं, वह अमरता जो वैदिक साधना का अतिम लक्ष्य है। इसलिये सूर्य और सूर्य की किरणों वे, उषा और दिन और रात्रि के, तथा प्रकाश व अधकार इन दो ध्रुवो के बीच में गुजरनेवाले मानव जीवन के रूपक को लेकर आर्य द्रष्टाओ ने मानवीय आत्मा के उत्तरोत्तर वृद्धिशील प्रकाश को निरूपित किया है। सो इसी प्रकार अत्रि के परिवार का श्यावाश्व इस सूक्त में सविता को, रचयिता, पोषक प्रकट करनवाले को, स्तुति कर रहा है।

सूर्य सत्य के प्रकाशों से मन को व विचारो को आलोकित करता है। वह विप्र है, प्रकाशमान है। और यह वह है जो अपनेपन के तथा अपनी परिस्थिति के घेरे से घिरी हुई चेतना में से व्यक्तिगत मानवीय मन को छुडाता है और उसकी सीमित गति को विशाल कर देता है, जो सीमित गति इस मन पर इसलिये थुप गयी है क्योकि यह अपने निजी व्यक्तिभाव में ही पहले से निमग्न या ग्रस्त पडा है। इसलिये वह बृहत्, है, विशाल है। पर उसका प्रकाश धुधला प्रकाश नहीं है, न ही उसकी विशालता अपनेको तथा विषय को गडबड, अस्पष्ट तथा द्रवित दृष्टि से देखने के कारण बनी होती है यह तो अपने अदर वस्तुओं के–उनके समुदायी रूप में तथा अलग अलग अवयवों और उनके परस्पर सबधो सहित–स्पष्ट विवेक को रखता है। इसलिये वह विपश्चित है, विचार में स्पष्टतायुक्त है। मनुष्य ज्यो ही इस सौर ज्योति के कुछ अश को अपने में ग्रहण करने लगते है तो वे अपनी सपूर्ण मनोवृत्ति को और इसकी विचारसामग्री को उनके अदर जो दिव्य सूर्य की सचेतन सत्ता है उसके प्रति सयोजित करने का यत्न करते है। कहने का अभिप्राय यह है कि वे अपनी सारी धुधली (तमोग्रस्त) मानसिक अवस्था को और अपने सारे भ्रात विचारों को अपने अदर अभिव्यक्त हुए इस प्रकाश के साथ सयोजित कर देते है, जोडते है, ताकि यह प्रकाश मन के धुधलेपन को निर्मलता में परिणत कर दे तथा विचार के भ्रमो को उन सत्यो में बदल

दे जिन सत्यो के वे (विचार-भ्रम) विकृत रूप में प्रदर्शक हैं। यह जोडना (युञ्जते) उनका योग हो जाता है। "वे मन को योजित करते है, और वे अपने विचारो को योजित करते है, वे जो कि प्रकाशमान (विप्र) है, उसके (अर्थात् उसके प्रति या इसलिये ताकि वे उसके अग बन सके या उससे सबद्ध हो सकें) जो कि प्रकाशमान (विप्र), विशाल (बृहत्), और स्पष्ट विचारोवाला (विपश्चित्) है।"*

तब वह सत्य का अधिपति उसे सौंपी गयी सब मानवीय शक्तियो को सत्य के नियमो के अनुसार व्यवस्थित कर देता है; क्योंकि वह मनुष्य के अदर एकमात्र और सर्वोपरि शक्ति हो जाता है जो कि सब ज्ञान और कर्म को शासित करता है। विरोधी शक्तियों से विघ्नित न होता हुआ, वह पूर्ण तौर से शासन करता है, क्योकि वह सब अभिव्यक्तियों को जानता है, उनके कारणो को समझता है, उनके नियम और पद्धति से युक्त होता है, उनको उचित परिणाम के लिये बाध्य करता है। मनुष्य के अदर ये यज्ञिय शक्तिया (होत्रा) सात है, जिनमेंसे प्रत्येक मनुष्य की आध्यात्मिक सत्ता के घटक सात तत्त्वों–अर्थात् शरीर, जीवन (प्राण), मन, विज्ञान (Supermind), आनद, सकल्प (चित्) और सारभूत

---

*"युञ्जते मन, उत युञ्जते धिय, विप्रा, विप्रस्य-बृहत-विपश्चित।" 'विप्रस्य', 'बृहत', 'विपश्चित' इनमें विभक्ति षष्ठी है इसलिये इनका अर्थ होगा कि 'विप्र के', 'बृहत् के', 'विपश्चित् के'। इसलिये शब्दार्थ करते हुए 'के' ऐसा षष्ठीपरक अर्थ ही किया है, पर आगे कोष्ठ में अर्थ स्पष्ट कर दिया है कि 'विप्र, बृहत्, विपश्चित् के' इसका अर्थ है 'विप्र, बृहत्, विपश्चित् के प्रति'। अथवा, यह वाक्यरचना ऐसी है कि 'विप्रस्य, बृहत, विपश्चित' के आगे 'भवितुम्' का अध्याहार करने से जो अर्थ निकलता है वही इसका अर्थ होगा कि 'विप्र, बृहत्, विपश्चित् का हो सकने के लिये', अर्थात् इसलिये कि उसके अग बन सके या उससे सबद्ध हो सके। –अनुवादक

सत्ता (सत्)-से क्रमश सबध रखती है। उनकी अनियमित क्रिया या मिथ्या सबध ही, जो कि मन के अदर ज्ञान के तमोग्रस्त हो जाने से पैदा होते हैं और कायम रहते हैं, सब स्खलनो और दु खो के, सब पापमय क्रियाओं और पापमय अवस्थाओ के कारण हैं। सूर्य, ज्ञान का अधिपति, उनमेंसे प्रत्येक को यज्ञ में उसके उचित स्थान में स्थापित कर देता है। "सब दृश्यजात का ज्ञाता अकेला यह यज्ञिय शक्तियो को क्रम में स्थापित कर देता है", वि होत्रा दधे वयुनावित् एक इत्।

मनुष्य इस प्रकार अपने अदर इस दिव्य रचयिता की विशाल और सर्वव्यापी स्तुति पर-यह ऐसा ही है ऐसे दृढ श्रद्धापूर्वक कथन पर-जा पहुचता है। यह इसी सदर्भ में सकेतित कर दिया गया है और अगली ऋचा में तो और भी अधिक स्पष्टता के साथ निर्दिष्ट कर दिया गया है कि इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य की पूर्ण सत्ता मे जगत् की एक उचित और सुखमय रचना-क्योंकि हमारी सारी ही सत्ता एक सतत रचना ही है-होने लगती है। "महान् है देव सविता की व्यापक स्तुति", मही देवस्य सवितु परिष्टुति। (मंत्र १)

सूर्य द्रष्टा है, प्रकट करनेवाला है। उसका सत्य अपने प्रकाश में वस्तुओ के सब रूपो को, सब दृग्गोचर विषयो को और अनुभूतियो को जिनका बना हुआ हमारा यह जगत् है, विराट् चेतना की उन सब आकृतियों को जो हमारे अदर और हमसे बाहर हैं, लिये हुए है। यह उनके अदर के सत्य को, उनके अभिप्राय को, उनके प्रयोजन को, उनके औचित्य तथा ठीक प्रयोग को प्रकट करता है। यज्ञ की शक्तियो को समुचित प्रकार से क्रम में स्थापित करता हुआ यह हमारी समग्र सत्ता के नियम के तौर पर भद्र को रचता या पैदा करता है। क्योंकि सभी वस्तुए अपनी सत्ता का कोई समुचित कारण रखती हैं, अपना उत्तम उपयोग और अपना उचित आनद रखती हैं। जब वस्तुओ के अदर यह सत्य पा लिया जाता है और उपयोग में ले आया जाता है तब सब वस्तुए आत्मा के लिये भद्र को पैदा कर देती हैं, इसके आनद को बढ़ा देती हैं, इसके ऐश्वर्य को

विशाल कर देती है। और यह दिव्य कान्ति दोनों के अंदर होती है, निम्न भौतिक सत्ता के अंदर (द्विपदे) तथा अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण उस आन्तरिक जीवन के अंदर (चतुष्पदे), जो कि अपनी अभिव्यक्ति के लिये इस (भौतिक जीवन) का उपयोग करता है।[1] "वह द्रष्टा सब रूपों को धारण करता है, वह द्विगुण (द्विपद) के लिये और चतुर्गुण (चतुष्पद) के लिये भद्र को प्रकट कर देता (रच देता या अभिव्यक्त कर देता) है", विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः, भद्रं प्रासावीद् द्विपदे चतुष्पदे।

इस नवीन रचना की पद्धति सूक्त के शेष भाग में वर्णित की गयी है। सूर्य, रचयिता बनकर, परम वरणीय बनकर, हमारी मानवीय चेतना में उस (चेतना) के छिपे हुए दिव्य शिखर को विशुद्ध मन के स्तरों पर अभिव्यक्त कर देता है और हम इस योग्य हो जाते हैं कि अपनी भौतिक सत्ता की पृथिवी पर से ऊपर की ओर देख सकें और हम अज्ञानरूपी रात्रि के अंधकारों से छूट जाते हैं। वह, प्राकृतिक सूर्य की तरह, उषा के प्रयाण का अनुसरण करता है तथा हमारी सत्ता के सब प्रदेशों को, जिनके ऊपर इसका प्रकाश पड़ता है, वह आलोकित कर देता है; क्योंकि इससे पहले कि स्वयं सत्य, अतिमानस तत्त्व, इस निम्न सत्ता पर अधिकार पा ले, हमेशा मानसिक प्रकाश का पहले आना अपेक्षित होता है। "वह रचयिता, वह परम वाञ्छनीय, सारे द्यौ को अभिव्यक्त कर देता है, और उषा की अग्रमुख गति (प्रयाण) के बाद या उसके अनुसार अनुगमन करता हुआ व्यापक रूप में प्रकाशित हो उठता है", वि नाकमख्यत् सविता वरेण्यः, अनु प्रयाणमुषसो विराजति। (मंत्र २)

सब अन्य देव सूर्य के इस प्रयाण में उसके पीछे पीछे आते हैं और वे उसके प्रकाश की शक्ति द्वारा उसकी बृहत्ता को पा लेते हैं। अभिप्राय

---

[1] "द्विपदे" और "चतुष्पदे" शब्दों के प्रतीकवाद की इससे भिन्न भी व्याख्या की जा सकती है। यहां इस विषय में विवाद उठावें तो वह बहुत अधिक स्थान ले लेगा।

यह कि जब मनुष्य के अदर सत्य और प्रकाश का विस्तार हो जाता है तब उसके साथ साथ अन्य सब दिव्य शक्तिया या दिव्य सभाव्यताए भी उसके अदर विस्तारित हो जाती हैं, आदर्श अतिमानस तत्त्व (विज्ञान) के बल द्वारा वे उचित सत्ता, उचित क्रिया और उचित ज्ञान की उसी असीम विशालता को पा लेती हैं। सत्य जब अपनी विशालता में होता है तब सबको असीम और विराट् जीवन के रूपो में ढाल देता है, सीमित वैयक्तिक सत्ता को हटाकर उसके स्थान पर इन्हे ला देता है, भौतिक चेतना के लोकों को जिन्हें कि सविता बनकर इसने रचा था, उनकी वास्तविक सत्ता के स्वरूपों में माप देता है। यह भी हमारे अदर एक रचना ही है, यद्यपि असल में यह केवल उसे व्यक्त करता है जो पहले से ही विद्यमान है पर हमारे अज्ञान के अधकार से ढका हुआ है,—ठीक उसी तरह जैसे कि भौतिक पृथिवी के प्रदेश अधकार के कारण हमारी आखों से छिपे होते हैं, पर तब प्रकट हो जाते हैं जब कि सूर्य अपने प्रयाण में उषा का अनुसरण करता है और एक एक करके उन पार्थिव प्रदेशो को दृष्टि के आगे मापता चलता है। "जिसके प्रयाण का अनुसरण करते हुए अन्य देव भी, उसकी शक्ति द्वारा, दिव्यता की महत्ता को पा लेते हैं। दीप्तिमान् वह सविता देव अपनी महत्ता द्वारा प्रकाश के पार्थिव लोकों को पूर्ण तौर से माप देता है", यस्य प्रयाणमनु अन्ये इद् ययु, देवा देवस्य महिमानम् ओजसा। य पार्थिवानि विममे, स एतश, रजासि देव सविता महित्वना॥ (मत्र ३)

परतु यह केवल हमारी भौतिक या पार्थिव चेतना ही नहीं है जिसे यह दिव्य सत्य इसकी पूरी क्षमता तक आलोकित करता है और इसे पूर्ण क्रिया के लिये तैयार कर देता है। पर यह विशुद्ध मन के तीन प्रकाशमान लोकों (त्रीणि रोचना) को भी व्याप्त करता है, यह हमारे अदर सवेदनों और भावोद्वेगो को, प्रज्ञा को, अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि को सब दिव्य सभाव्यताओं के सस्पर्श में ले आता है और उच्चतर शक्तियो को उनकी सीमा से तथा भौतिक जगत् के साथ उनके सतत सपर्क से छुडाता हुआ यह

हमारी समस्त मानसिक सत्ता को परिपूरित कर देता है। इसकी क्रियाएं अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति को पा लेती हैं, वे सूर्य की किरणो द्वारा, अर्थात् हमारे अदर व्यक्त हुए दिव्य अतिमानस तत्त्व (विज्ञान) की पूर्ण दीप्ति द्वारा, पूर्ण सत्य के जीवन में आकर इकट्ठी हो जाती हैं। "और हे सवित ! तू तीन प्रकाशमान लोको में जाता है, और तू सूर्य की किरणों द्वारा पूर्ण तौर से अभिव्यक्त किया गया है (या, किरणो द्वारा एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है)", उत यासि सवित त्रीणि रोचना, उत सूर्यस्य रश्मिभि समुच्यसि।

तब यह होता है कि अमरता का, प्रकाशित हुए सच्चिदानद का, उच्च साम्राज्य इस लोक में पूरे तौर से चमक उठता है। इस अतिमानस स्वत-प्रकाश की ज्योति में उच्च और निम्न का वैर शात हो जाता है। अज्ञान, रात्रि, हमारी पूर्ण सत्ता के दोनो पार्श्वों में, न कि केवल एक पार्श्व में जैसी कि हमारी वर्तमान अवस्था में है, प्रकाशित हो उठती है। यह उच्च साम्राज्य आनद के तत्त्व में प्रकट होता है, जो आनद का तत्त्व हमारे लिये मित्र देवता से द्योतित होनेवाला प्रेम और प्रकाश का तत्त्व है। सत्य का देवता (सविता), जब वह अपने आपको पूर्ण देवत्व में प्रकट करता है, आनद का देवता (मित्र) हो जाता है। उसकी सत्ता का नियम, उसकी क्रियाओं को नियमित करनेवाला तत्त्व, प्रेम रूप धारण करता हुआ देखा जाता है, क्योंकि ज्ञान तथा क्रिया के उचित व्यवस्था में आ जाने पर प्रत्येक ही वस्तु यहा भद्र, ऐश्वर्य, आनद के रूपो में परिवर्तित हो जाती है। "और तू रात्रि को दोनों पार्श्वों से घेर लेता है, और हे देव ! तू अपनी क्रिया के नियमो से मित्र बन जाता है", उत रात्रीमुभयत परीयसे उत मित्रो भवसि देव धर्मभि। (मत्र ४)

दिव्य सत्ता का सत्य अतत अकेला हमारे अदर सब रचनाओ का एकमात्र अधिपति हो जाता है, और अपने सतत अभ्यागमनो द्वारा या अपनी निरतर प्रगतियो द्वारा यह रचयिता पोषक बन जाता है, सविता पूषा बन जाता है। वह एक सतत, उत्तरोत्तर प्रगतिशील रचना के द्वारा हमें समृद्ध

करता चलता है, जब तक कि वह हमारी सभूति के (जो कुछ हुआ है उसके) समस्त लोक (विश्व भुवनम्) को आलोकित नहीं कर देता। हम बढ़ते हुए पूर्ण, विराट्, असीम हो जाते हैं। इस प्रकार 'श्यावाश्व आत्रेय' सविता को अपनी सत्ता के अदर स्तुत-सुस्थापित-कर लेने में सफल हो सका है, उस सविता को जो कि आलोकप्रदाता सत्य है, रचयिता है, प्रगतिशील है, मनुष्य का पोषक है-जो मनुष्य को अहभाव की सीमा में से निकालकर व्यापकता में परिणत कर देता है, सीमित से हटाकर असीम कर देता है। "और तू अकेला ही रचना के लिये शक्ति रखता है; और हे देव! तू गतियो द्वारा पोषक बनता है, और तू इस समस्त लोक को (भुवनम्, शाब्दिक अर्थ है 'सभूति को') पूर्णत प्रकाशित कर देता है। श्यावाश्व ने, हे सवित ! तेरे स्तवन को प्राप्त कर लिया है", उन ईशिषे प्रसवस्य त्वमेक इत्, उत पूषा भवसि देव यामभि । उत इद विश्व भुवन विराजसि, श्यावाश्वस्ते सवित स्तोममानशे॥

छठा अध्याय

# दिव्य उषा

ऋग्वेद, मण्डल ३, सूक्त ६१

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे ॥१॥

(उषः) हे उषा! (वाजेन वाजिनि) हे सारतत्त्व के भण्डार से समृद्धि-शालिनि! (प्रचेताः) प्रचेता! तू (गृणतः) जो तुझे अभिव्यक्त करता है उसके (स्तोमं) स्तोम को, स्तोत्र-वचन को (जुषस्व) सेवन कर, (मघोनि) हे विपुलतासंपन्ने! (देवि) हे देवि! (पुराणी युवतिः) जो पुरातन होती हुई भी सदा युवती है (पुरन्धि) तू बहुत विचारोंवाली होकर (व्रतम् अनुचरसि) अपने क्रिया-नियम का पालन करती हुई चलती है, (विश्ववारे) हे सब वरों को धारण करनेवाली!॥१॥

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये ॥२॥

(देवि उषः) हे दिव्य उषा! (अमर्त्या विभाहि) अमृत हो चमक उठ (चन्द्ररथा) आनंदपूर्ण प्रकाश के अपने रथ में बैठी हुई और (सूनृताः ईरयन्ती) सत्य की आनंदमयी वाणियों को प्रेरित करती हुई। (त्वा सुयमासः अश्वाः आवहन्तु) तुझे सुनियन्त्रित घोड़े यहा ले आवे, (ये हिरण्यवर्णाः पृथुपाजसः) जो घोडे रंग में सोने जैसे चमकीले तथा गति व शक्ति में विशाल और महान् है॥२॥

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥३॥

(उषः) हे उषा! तू (विश्वा भुवनानि प्रतीची) सब लोकों के सम्मुख होकर (ऊर्ध्वा तिष्ठसि) ऊपर खड़ी होती है (अमृतस्य केतुः)

और उनके लिये अमरता का दर्शन है। (समानं अर्थं चरणीयमाना) एक सम क्षेत्र पर गति करती हुई तू, (नव्यसि) हे नूतन दिव्य रूप! (चक्रं इव आ ववृत्स्व) उनपर पहिये की तरह घूम ॥३॥

अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी।
स्वर्जनन्ती सुभगा सुदंसा आन्ताद् दिवः पप्रथ आ पृथिव्याः ॥४॥

(उषाः) उषा (मघोनि) अपने प्राचुर्य में पूर्ण (स्यूम इव अवचिन्वती) मानो सिये हुए चोगे को उतारती हुई (स्वसरस्य पत्नी) आनन्दमय की पत्नी के रूप में (याति) विचरती है। (स्वः जनन्ती) 'स्व' को उत्पन्न करती हुई (सुदसा) अपनी क्रिया में पूर्णतायुक्त (सुभगा) अपने भोगों में पूर्णतायुक्त (आ दिवः अन्तात्) द्युलोक के छोर से लेकर (आ पृथिव्याः) पृथिवी के किनारे तक (पप्रथे) विस्तृत होती है ॥४॥

अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम्।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत् प्र रोचना रुरुचे रण्वसंदृक् ॥५॥

(वः) तुम (देवीं उषसं) देवी उषा को (विभातीं) जब वह तुम्हारे प्रति विस्तृत रूप से प्रकाशमान होती है (अच्छ) अच्छी तरह स्वागत करो, (वः) तुम (नमसा) उसके प्रति समर्पण के द्वारा (सुवृक्ति) अपने पूर्ण बल को (प्रभरध्वं) बाहर निकालो। (ऊर्ध्वं दिवि) ऊपर द्युलोक में (पाजः) जो बल है उसको (मधुधा अश्रेत्) मधुरता को स्थापित करती हुई वह श्रयण करती है; वह (रोचना) प्रकाशमान लोकों को (प्ररुरुचे) अच्छी तरह जगमगा देती है और (रण्वसदृक्) परमानन्द का दृश्य उपस्थित करनेवाली है ॥५॥

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः ॥६॥

(दिवः अर्कैः) द्युलोक के प्रकाशनों द्वारा वह उषा (ऋतावरी) सत्य के धारण करनेवाली (आ अबोधि) जानी जाती, देखी जाती है; और (रेवती) आनन्दपूर्ण होकर वह (रोदसी) द्यावापृथिवी में (चित्रं) चित्रविचित्र प्रकाश से युक्त (आ अस्थात्) आती है। (अग्ने)

हे अग्नि! (विभार्ती आयतीं उपस) चमकती हुई आती उषा से (भिक्षमाण) मागता हुआ तू (वाम द्रविण) आनन्द के पदार्थ को (एषि) पा लेता है॥६॥

ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन् वृषा मही रोदसी आ विवेश।
मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानु वि दधे पुरुत्रा॥७॥

(ऋतस्य बुध्ने) सत्य के आधार में, (उपसा) उषाओ के आधार में (इषण्यन्) अपनी प्रेरणाओ को प्रवर्तित करता हुआ (वृषा) उनका स्वामी (मही रोदसी) विशाल द्यावापृथिवी में, द्यावापृथिवी की विशालता में (आविवेश) प्रविष्ट होता है। (मित्रस्य वरुणस्य मही माया) मित्र की, वरुण की महती प्रज्ञा (चन्द्रा इव) मानो सुखपूर्ण प्रकाशवती होकर (भानु) ज्योति को (पुरुत्रा विदधे) नानाविध रूप से व्यवस्थित करती है॥७॥

भाष्य

सूर्य सविता अपने प्रकाश फैलाने के कार्य को तभी करता है जब कि पहले उषा का उदय हो चुका होता है। एक अन्य सूक्त में वर्णन किया गया है कि निरन्तर आनेवाली उषाओ की प्रकाशमय शक्ति के द्वारा मन की गतिया सचेतन और चमकीली होती गयीं। वेद में सर्वत्र ही द्यौ की पुत्री, उषा का यही व्यापार बतलाया गया है। अन्य देवताओं की जागृति की, कार्यशीलता की और वृद्धि की यह माध्यम है, वैदिक सिद्धि प्राप्त करने की यह–उषा का उदय–पहली शर्त है। इसके बढ़ते हुए प्रकाश को पाकर मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति विशद, निर्मल हो जाती है, इसके द्वारा वह (मनुष्य) सत्य को पहुचता है, इसके द्वारा वह परम पद का उपभोग करता है। ऋषियो द्वारा वर्णित दिव्य उषा के उदयन का मतलब उस दिव्य प्रकाश का निकल आना है जो कि एक के बाद एक आवरण के पर्दे को हटाता जाता और मनुष्य के क्रिया-कलाप में प्रकाशमय देवत्व को प्रकट करता जाता है। इसी प्रकाश में कर्म किया जाता है, यज्ञ चलाया जाता है और इसके अभीष्ट फल मानव-जाति द्वारा प्राप्त किये जाते हैं।

निस्सन्देह ऐसे सूक्त अनेक हैं जिनमें उषा के भौतिक रूप के उज्ज्वल सुन्दर सजीव वर्णन द्वारा उषा देवी का यह आन्तरिक सत्य छिप जाता है, पर महान् ऋषि विश्वामित्र के इस सूक्त में वैदिक उषा की आध्यात्मिक प्रतीकता प्रारम्भ से अन्त तक स्पष्ट दिखायी देती हैं, खुले तौर पर प्रकट की गयी है, विचार के ऊपरी तल पर विद्यमान हैं। वह उषा से कहता है, 'हे उषः, हे अपने सारतत्त्व के समृद्ध भण्डारवाली! प्रचेता तू उसके स्तोम को सेवन कर जो तुझे अभिव्यक्त करता है, हे तू! जो विपुलतायुक्त है'। 'प्रचेता' यह शब्द तथा इससे सम्बन्ध रखनेवाला 'विचेता' शब्द, ये वैदिक भाषा-सरणि के पारिभाषिक शब्द हैं; इनका आशय उन्हीं विचारो के अनुरूप प्रतीत होता है जिन्हें आगे चलकर वैदान्तिक भाषा में 'प्रज्ञान और विज्ञान' शब्द द्वारा प्रकट किया गया है। प्रज्ञान वह चेतना है जो सब वस्तुओं को, अपने निरीक्षण के सम्मुख आनेवाले विषयो के रूप में, जानती है; दिव्य मन के अंदर यह वस्तुओ के संबंध का वह ज्ञान है जो उनके स्रोत, उनके स्वामी और साक्षी के रूप में होता है। विज्ञान वह ज्ञान है जो वस्तुओ के सत्य के साथ एक प्रकार की एकता-स्थापन द्वारा चेतना में उन्हें धारण करता, उनके अंदर प्रविष्ट होता और उन्हें व्याप्त करता है। सो उषा ने एक ज्ञान की शक्ति के रूप में-ऐसी ज्ञान की शक्ति के रूप में कि मनुष्य में अभिव्यक्ति के लिये मन के सम्मुख जो कुछ इन द्वारा रखा जाता है उसके सत्य को वह जानती है, उसको प्रचेता है-ऋषि के प्रकाशकारक विचार तथा शब्द को व्याप्त करना है, सेवन करना है। यह ध्वनित किया गया है कि ऋषि का स्तोम, उष:स्तोत्र पूर्ण और विपुल होगा; क्योंकि उषा 'वाजेन वाजिनि' है, 'मघोनि' है, उसके सारतत्त्व का भंडार समृद्ध है, उसके पास सब प्रकार की प्रचुरता और विपुलता है।

यह उषा देवी अपने प्रगति-पथ पर सदा एक दिव्य क्रिया के नियम के अनुसार चलती है। वे विचार बहुत से हैं जिन्हें वह इस प्रगति में साथ लाती है; पर उसके पग जमकर पड़ते हैं और सर्व वांछनीय वस्तुएं,

सब वर-आनद के वर, 'दिव्य अस्तित्व के आशीर्वाद-उसके हाथो में है। यह पुरातन और सदातन है, उस प्रकाश की उषा है जो आदिकाल से चला आ रहा है, अत 'पुराणी' है, पर अपने आगमन में वह सदा युवती है, सदा नई है, उस आत्मा के लिये जो उसे ग्रहण करता है नित्य नई है। (देखो, मत्र १)

उसने चारो ओर चमक उठना है, उसने जो कि दिव्य उषा है, अमर अस्तित्व के प्रकाश के रूप में, मनुष्य के अदर सत्य और आनद की (सूनृता-यह एक शब्द है जो सत्य और सुखमय इन दोनो भावो को इकट्ठा प्रकट करता है) वाणियो या शक्तियों को जगाते हुए; क्योकि क्या उसकी गति का रथ इकट्ठा प्रकाश और सुख का रथ नहीं है? क्योकि फिर, 'चद्ररथा' में आया चद्र शब्द (जिसका कि अर्थ चद्रमा का देवता अर्थात् सोम भी होता है जो कि मनुष्य के अदर बरसनेवाले अमृत के आनद का-आनद और अमृत का-अधिपति है) दोनो, प्रकाशमय और सुखमय, अर्थ को प्रकट करता है। और इसे लानेवाले घोडे पूरी तरह नियत्रित होने चाहियें-'घोडे' यह रूपक है उन वातिक (स्थूल प्राण की) शक्तियो के लिये जो हमारी सब क्रियाओं को सहारा देती और आगे बढाती है। सुनहले, चमकीले रगवाले इन घोडों का स्वभाव (क्योकि इस प्राचीन प्रतीकवाद में रग निदर्शक होता है गुण का, चरित्र का, प्रकृति का) होना चाहिये अपनी सकेंद्रित प्रकाशमयता में विद्यमान ज्ञान की क्रियाशीलता का, उज्ज्वल ज्ञानक्रिया का, उस सकेंद्रित शक्ति का यह पुज होना चाहिये अपने फैलाव में विशाल या महान्-पृथुपाजसो ये। (देखो, मत्र २)

इस प्रकार दिव्य उषा अपने ज्ञान के प्रकाश के साथ, प्रज्ञान के साथ, आत्मा के प्रति आती है, अपने उस ज्ञान के क्षेत्रभूत सब लोको के सम्मुख होकर अर्थात् हमारी विराट् सत्ता के सब प्रदेशो के-मन, प्राण और भौतिक चेतना के-सम्मुख होकर। वह उनके ऊपर, मन से ऊपर की हमारी ऊचाइयो पर, उच्चतम लोको में ऊर्ध्व होकर खडी होती है, उनपे

लिये अमरता का या अमृतमय का दर्शन बनकर, 'अमृतस्य केतुः' होकर, उनमें शाश्वतिक और परम सुखमय अवस्था को या नित्य सनातन आनंदमय देव को प्रकट करती हुई खड़ी होती है, एवं ऊंची वह खड़ी होती है दिव्य ज्ञान की गति को संपादित करने के लिये तैयार होकर, बिल्कुल समतल भूमि पर बिना रगड़ के चलनेवाले पहिये की तरह वह उनकी (लोकों की) सामंजस्ययुक्त और समतायुक्त क्रियाओं में आगे आगे बढ़ती है सनातन सत्ता के एक नए नए प्रकाश के रूप में, नव्यसि; क्योंकि वे लोक (मन, प्राण और शरीर के लोक) अब, उनकी नानारूपता और बेसुरापन हट जाने के कारण, इस गति में कोई बाधा उपस्थित नहीं करते (देखो, मंत्र ३)।

अपनी प्रचुरता से पूर्ण वह, मानो परिश्रम से सोये गये उस चोगे को अपनेसे जुदा करती, अपने ऊपर से उतार डालती है जिसने कि वस्तुओं के सत्य को ढक रखा है और प्रियतम की पत्नी 'स्वसरस्य पत्नी' के तौर पर अर्थात् अपने आनंदस्वरूप पति की शक्ति के तौर पर वह विचरती है। अपने सुख के भोग में पूर्णतायुक्त, अपनी क्रियाओं के संपादन करने में पूर्णतायुक्त 'सुभगा सुदंसा', वह अपनी प्रकाशस्फुरणाओं द्वारा हमारे अंदर 'स्वः' को जनित करती है अर्थात् छिपे हुए प्रकाशमान मन को, हमारे उच्चतम मानसिक द्युलोक को उत्पन्न करती है, और इस प्रकार मानसिक सत्ता के दूरतम किनारों से लेकर भौतिक चेतना भर के ऊपर अपने आपको फैला देती है (देखो, मंत्र ४)।

जैसे कि यह दिव्य उषा अपने प्रकाश को विस्तृत रूप में मनुष्य के ऊपर डालती है वैसे मनुष्य को भी चाहिये कि वह उसके दिव्य क्रिया और गति के नियम के प्रति समर्पण करने द्वारा उसके लिये अपनी सत्ता को और अपनी सामर्थ्य को पूरी तरह शक्तियुक्त हुई पूर्णता को बाहर ले आवे, प्रकट करे, जिससे कि यह उसके प्रकाश का वाहन बन सके अथवा उसकी यज्ञक्रियाओं का एक स्थान बन सके (देखो, मंत्र ५ का पूर्वार्ध)।

इसके बाद ऋषि दिव्य उषा के मनुष्य के अंदर जो दो मुख्य कार्य

हैं उनका विस्तार से वर्णन करता हूं। पहला कार्य है, उषा मनुष्य को प्रकाश की पूरी शक्ति तक ऊपर उठाती हैं और उसे सत्य का प्रकाश कराती है; दूसरा है, वह मनुष्य पर आनद को, अमृत को, सोमरस को, मानसिक और शारीरिक सत्ता में जो अमर अस्तित्व है उसके आनंद की वर्षा करती है। "दिवि" अर्थात् शुद्ध मन के लोक में वह प्रकाश की पूरी शक्ति और मात्रा में ऊपर उठती है–ऊर्ध्वं पाजो अश्रेत्, और उन शुद्ध और उच्च स्तरो से वह मधुरता को, 'मधु को', सोम के मधु को स्थापित करती है। तीन प्रकाशमान लोकों–'रोचना'–को वह अच्छी तरह चमका देती है; तब वह परमानन्द का दृश्य बन जाती है या इस दृश्य को उपस्थित करनेवाली होती है (देखो, मंत्र ५ का उत्तरार्ध)। शुद्ध मनोवृत्ति के कार्यसाधक प्रकाशों से, सिद्धिदायक मंत्रो द्वारा, 'दिवो अर्के', वह सत्य के धारण करनेवाली के रूप में दिखायी देती है और इस सत्य के साथ, मन से ऊपर के लोक से आकर, आनन्द से परिपूर्ण वह अपनी विविध विचार और क्रिया की चित्र विचित्र क्रीडा करती हुई मानसिक और शारीरिक चेतना में (रोदसी)–ये वे दो सीमाएं हैं जिनके कि बीच में मनुष्य का कर्म गति करता है–प्रविष्ट होती है। इस उषा से ही, जब यह इस प्रकार समृद्धिशालिनी (वाजेन वाजिनी) होकर वहा से आती है, अग्नि (जो कि वह दिव्य शक्ति है जो मर्त्य को ऊपर उठाने के लिये यहा शरीर में और मन में काम कर रही है) सोम को पाने की प्रार्थना करता है और उसे पा लेता है–वह सोम जो परमानद का पान है, आनंदमय सारपदार्थ है (देखो, मत्र ६)।

हमारे अदर जो अतिमानस (विज्ञानमय) लोक है, जो सत्य का आधार है वही उषाओं का आधार है। ये उषाएं मर्त्य प्रकृति के अंदर उस अमर्त्य सत्य के, 'ऋतम् ज्योति' के प्रकाश के अवतरणभूत हैं। इन उषाओं का अधिपति, सत्य का स्वामी, प्रकाशक, उत्पादक, व्यवस्थापक, मनोऽतीत सत्य के आधार में अपनी क्रियाओं की प्रेरणा को प्रवर्तित करता हुआ, उनके साथ इस उषा देवी के द्वारा मानसिक और शारीरिक सत्ता

में प्रविष्ट होता है जो मानसिक और शारीरिक सत्ताएं अब अधकाराच्छन्न नहीं रही है, अपने सीमाबधनो से मुक्त तथा विशालता को धारण करने योग्य हो गयो है, 'मही रोदसी'। सत्य का अधिपति वस्तुओ का एकमात्र अधिपति है। वह है वरुण, विशालता और पवित्रता की आत्मा। वह है मित्र, प्रेम, प्रकाश और सामजस्य का स्रोत। उसकी सर्जन करनेवाली प्रज्ञा–मही मित्रस्य वरुणस्य माया–जो कि अपने क्षेत्र में अमर्यादित है (क्योंकि वह वरुण है), जो आनद और हर्ष की ज्योति की तरह (चद्रेव) प्रतीत होती है (क्योंकि वह मित्र है), सत्य की गभीर अभिव्यक्तियों को, प्रकाशमय अभिव्यक्तियो को, नानाविध रूपो में, मुक्त हुई प्रकृति की विशालता में, व्यवस्थित करती है, पूर्णतया सघटित करती है। वह उन विविध ज्योतियो को जिनके साथ कि उसकी उषा हमारे द्यावापृथिवी (मन, शरीर) में प्रविष्ट हुई है एकत्रित कर देता है, सयुक्त कर देता है, वह उस (उषा) की सच्ची और सुखकर वाणियों को एक समस्वरता में मिला देता, सामजस्ययुक्त कर देता है (देखो, मत्र ७)।

दिव्य उषा परमदेव का आगमन है। वह है सत्य और परमसुख की ज्योति जो कि हमपर ज्ञान और आनद के अधिपति की तरफ से बरस रही है–अमृतस्य केतु:, स्वसरस्य पत्नी।

सातवा अध्याय

# भग सविता, आनन्दोपभोक्ता

ऋग्वेद, मण्डल ५, सूक्त ८२

तत् सवितुर्वृणीमहे वय देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठ सर्वधातम तुर भगस्य धीमहि॥१॥

(सवितु देवस्य) सविता देव के (तत् भोजनम्) उस आनदोपभोग को (वय वृणीमहे) हम वरते हैं (श्रेष्ठम्) जो सर्वश्रेष्ठ है (सर्वधातमम्) सबको समुचित रूप से व्यवस्थापित करनेवाला है (तुर) लक्ष्य पर पहुचानेवाला है, (भगस्य) भग के उस आनद को (धीमहि) हम विचार द्वारा ग्रहण करते है॥१॥

अस्य हि स्वयशस्तरम् सवितु कच्चन प्रियम्।
न मिनन्ति स्वराज्यम्॥२॥

(हि) क्योकि (अस्य [भगस्य] सवितु) इस आनदोपभोक्ता सविता के (कच्चन प्रिय) किसी भी वस्तु के सुख को (न मिनन्ति) वे क्षीण नहीं कर सकते, (स्वयशस्तरम्) क्योकि यह अत्यत आत्मविजयशील है, (न स्वराज्यम्) न ही उसके स्वराज्य को [क्षीण कर सकते हैं]॥२॥

स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भग।
त भाग चित्रमीमहे॥३॥

(स हि) वह ही (दाशुषे) उत्सर्ग करनेवाले के लिये (रत्नानि सुवाति) आनदो को प्रेरित करता है (स सविता भग) वह ऐसा भग देव है जो कि वस्तुओ का उत्पादक है, (त चित्र भागम्) उसके उस विविध-रूप ऐश्वर्योपभोग को (ईमहे) हम चाहते है॥३॥

अद्या नो देव सवित प्रजावत् सावी सौभगम्।
परा दुष्वप्न्य सुव॥४॥

(अद्य) आज (देव सवितः) हे दिव्य रचयिता (न ) हमपर (प्रजावत् सौभगम्) फलयुक्त आनद को (सावी ) प्रेरित कर, (दु ष्वप्न्यम्) उसे जो कि दु स्वप्न से सबध रखता है (परासुव) दूर कर ॥४॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद भद्र तन्न आ सुव ॥५॥

(विश्वानि दुरितानि) सब बुराइयो को (देव सवित ) हे दिव्य रचयिता, तू (परासुव) दूर कर दे, (यद् भद्र) जो श्रेयस्कर है (तत्) उसको (न आसुव) हमपर प्रेरित कर ॥५॥

अनागसो अदितये देवस्य सवितु सवे।
विश्वा वामानि धीमहि ॥६॥

(अनागस ) निर्दोष होकर (अदितये) असीम सत्ता के लिये (देवस्य सवितु सवे) दिव्य रचयिता से होनेवाले सव में, हम (विश्वा वामानि) सब आनद की वस्तुओ को (धीमहि) विचार द्वारा ग्रहण करते है ॥६॥

आ विश्वदेवं सत्पतिं सूक्तैरद्या वृणीमहे।
सत्यसव सवितारम् ॥७॥

(विश्वदेवम्) विश्वव्यापी देव (सत्पतिम्) और सत्ता के अधिपति को (सूक्तैं ) पूर्ण शब्दों के द्वारा (अद्य आवृणीमहे) आज हम अपने अदर स्वीकार करते है, (सत्यसव सवितारम्) उस रचयिता को जिसकी रचना सत्यमय है ॥७॥

य इमे उभे अहनी पुर एत्यप्रयुच्छन्।
स्वाधीर्देव सविता ॥८॥

(य देव सविता) जो दिव्य रचयिता (अप्रयुच्छन्) कभी स्खलन को प्राप्त न होता हुआ (स्वाधी ) अपने विचार को उचित प्रकार से स्थापित करता हुआ (इमे उभे अहनी) इन दिन और रात दोनों के (पुरः एति) सम्मुख जाता है ॥८॥

य इमा विश्वा जातान्याश्रावयति श्लोकेन।
प्र च सुवाति सविता ॥९॥

(य सविता) जो रचयिता (श्लोकेन) लय के साथ (इमा विश्वानि जातानि) इन सब प्रजाओ को (आश्रावयति) ज्ञान में श्रवण कराता है (प्रसुवाति च) और उन्हे उत्पन्न कर देता है॥९॥

भाष्य

चार महान् देव सर्वत्र वेद में अपने स्वरूप में और अपने कार्य में निकटतया सबद्ध दिखायी देते है, वे है वरुण, मित्र, भग, अर्यमा। वरुण और मित्र, ऋषियों के विचारो में सदा युगलरूप में जुड गये है, कहीं कहीं वरुण, मित्र और भग अथवा वरुण, मित्र और अयमा का एक त्रैत भी दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सूक्त अपेक्षाकृत बहुत कम है जो इनमेंसे किसी एक देव को पृथक् रूप में संबोधित किये गये हो, यद्यपि कुछ महत्त्वपूर्ण सूक्त है जिनका कि देवता वरुण है। पर ऐसी ऋचाए जिनमें इन देवो के नाम आ जाते है और वे ऋचाए अन्य किन्हीं देवो की हो या विश्वेदेवा के आवाहन में हो, किसी भी प्रकार सख्या में कम नहीं है।

ये चारो देवता सायण के अनुसार, सौर शक्तिया है, वरुण सूर्य का अभावात्मक रूप है और इस प्रकार रात्रि का देवता है, मित्र भावात्मक रूप होकर दिन का देवता है, भग और अर्यमा सूर्य के नाम है। इन विशेष प्रकार की तद्रूपताओ को अधिक महत्ता देने की हमें आवश्यकता नहीं है, पर इतना तो निश्चित है कि इन चारो देवो को कोई सौर धर्म ही परस्पर जोडता है। वैदिक देवो का यह विशेष स्वरूप कि वे अपने व्यक्तित्वो तथा व्यापारो तक में विभिन्न होते हुए वास्तविक एकता रखते है, इन चार देवो के विषय में विशेष तौर से प्रकाश में आ जाता है। ये चारो अपने आपमें घनिष्ठता के साथ केवल सबद्ध ही नहीं है, परतु वे एक दूसरे के स्वभाव और धर्मों में भागी होते हुए दिखायी देते है और ये सब स्पष्टत सूर्य सविता के उद्भव है जो सूय सविता अपने रचनात्मक और प्रकाशक सौर रूपोंवाली दिव्य सत्ता है।

सविता सूर्य रचयिता है। सब लोक, वस्तुओ के सत्य के अनुसार, ऋतम्, के अनुरूप, दिव्य चेतना से, उस अदिति से, पैदा हुए है जो कि

असीम सत्ता की देवी है, देवो की माता है, अविभाज्य चेतना है, ऐसी ज्योति है जो क्षीण नहीं हो सकती, जो वध न की जा सकनेवाली रहस्यमयी गौ के प्रतीक से निरूपित हुई है। उस रचना में वरुण और मित्र, अर्यमा और भग ये चार कार्यनिर्वाहक बल है, देवता है। वरुण द्योतक है विशुद्ध और बृहत् सत्ता के लोक का, सच्चिदानद के सत् का; अर्यमा द्योतक है दिव्य चेतना के प्रकाश का जो कि शक्ति के रूप में कार्य करता है; मित्र प्रकाश और ज्ञान का द्योतक होता हुआ, रचना के लिये आनद के तत्त्व का उपयोग करता हुआ, वह प्रेम है जो कि समस्वरता के नियम को स्थापित रखता है; भग द्योतक है रचनाशील सुख रूपी आनद का, वह रचना के आनंद का उपभोग करता है, जो कुछ विरचित हुआ है उस सबका आनद लेता है। यह वरुण की, मित्र की माया, उत्पादक प्रज्ञा है जो कि अदिति के उस प्रकाश को विविध प्रकार से विनियुक्त करती है जो प्रकाश उषा द्वारा लोको को अभिव्यक्त करने के लिये लाया जाता है।

अपने आध्यात्मिक व्यापार में भी ये चारों देव मानव-मन में, मानव स्वभाव में कार्य कर रहे उपर्युक्त चार तत्त्वो के ही द्योतक होते है। वे मनुष्य के अंदर उसकी सत्ता के विभिन्न स्तरों को रचते है और उन्हे अंत में दिव्य सत्य के रूपों में और वृत्तियो में ढाल देते है। विशेषतया मित्र और वरुण तो निरंतर इस रूप में वर्णित हुए है कि वे अपने कर्म के नियम को दृढ़ता से धारण करते है, सत्य को बढाते है, सत्य को स्पर्श करते है और उस सत्य द्वारा दिव्य संकल्प की विशालता का या उसके महान् और असंबाधित यज्ञिय कर्म का आनंद लेते है। वरुण द्योतक है विशालता, सत्य और पवित्रता का, प्रत्येक वस्तु जो सत्य से, पवित्रता से, च्युत हो जाती है, वह वरुण की सत्ता से परावृत्त हो जाती है और अपराधी को उसके पाप के दण्डस्वरूप आघात पहुंचाती है। मनुष्य तब तक जब तक कि वह वरुण के सत्य की विशालता को नहीं पा लेता, यज्ञ-पशु के रूप में विश्वयज्ञ के स्तंभो में मन, प्राण और शरीर के त्रिविध बंधनो

से बधा रहता है और स्वामी या उपभोक्ता के तौर पर मुक्त नहीं हो पाता। इसीलिये ऐसी प्रार्थनाए बहुत मिलती हैं कि हम वरुण के पाश से, उसके पवित्रता-भग के रोष से, मुक्त हो जाय। दूसरी तरफ मित्र देवो में अधिक प्रिय है, वह अपनी समस्वरता की स्थिरताओ द्वारा, उत्तरोत्तर प्रकाशमान धामो द्वारा, मित्रस्य धामभि, सबको बाध लेता है। उसका नाम 'मित्र', जिसका अर्थ सखा भी है, सतत रूप से द्वयर्थक रूप में प्रयुक्त किया गया है, मित्र रूप होने के नाते ही अन्य देव भी मनुष्य के मित्र (सखा) बन जाते हैं, क्योंकि मित्र देव उन सबके अदर निवास करता है। अर्यमा के व्यक्तित्व की स्पष्ट भिन्नता वेद में बहुत कम दिखायी देती है, क्योकि उसके निर्देश करनेवाले स्थल स्वल्प ही हैं। भग के व्यापार अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट हुए हैं, और वे विश्व में बाहर तथा मनुष्य के अदर दोनो जगह एक से हैं।

सविता को कहे गये श्यावाश्व के इस सूक्त में हमें दोनो बाते मिलती हैं, भग के व्यापार और सविता सूर्य के साथ उसकी एकता, क्योकि सूक्त सम्बोधित तो किया गया है सूर्य को, सत्य के रचनाकारक देव को, पर सूर्य यहा विशेष तौर से भग, आनदोपभोग के देवता, के रूप में आया है। भग शब्द का अर्थ है उपभोग या आनन्दोपभोक्ता और यही आशय इस देव-नाम 'भग' में उचित है यह बात इसी सूक्त की ऋचाओ में 'भोजनम्', 'भाग', 'सौभगम्', के प्रयोग से और भी दृढतापूर्वक द्योतित कर दी गयी है। सविता का अर्थ, हम देख चुके हैं, रचयिता है, पर रचना का मतलब यहा विशेषतया उत्पन्न करना, अव्यक्तावस्था से प्रेरित कर, निकाल करके व्यक्तावस्था में लाना है। सारे सूक्त में सतत रूप से शब्द के इसी धात्वर्थ को लेकर सारी रचना की गयी है, जिसे कि अनुवाद में पूरे तौर से ला सकना असम्भव है। पहली ही ऋचा में इस प्रकार का एक गूढ प्रयोग है, क्योकि 'भोजनम्' के दोनो अर्थ हैं उपभोग (आनदोपभोग) और खाद्य सामग्री। और यहा यह आशय देना अभिप्रेत प्रतीत होता है कि 'सविता का उपभोग' सोम है, जो कि देवो का भोजन

परम रस है, महान् उत्पादक की सर्वोच्च उत्पादित वस्तु है (सोम इसी 'सु' धातु से बना है जिससे कि सविता और इसका अर्थ है न्न करना, निचोडना, रस क्षरित करना)। जो कुछ ऋषि चाहता है यह है कि वह सब विरचित वस्तुओ में अमृत का और अमृतकारक द का आस्वादन कर सके।

यही वह आनद है जो कि रचयिता का, सूर्य सविता का उपर्युक्त भोग है, जो सत्य का सर्वोच्च परिणाम है, क्योकि सत्य का इस रूप अनुसरण किया जाता है कि वह दिव्य आनद की प्राप्ति का मार्ग है। आनद सर्वोच्च, सर्वोत्कृष्ट उपभोग है। यह सबको समुचित रूप से स्थित कर देता है, क्योकि एक बार जब आनद सब वस्तुओ में हत दिव्य आनद, प्राप्त हो जाता है तब यह सब विकृतियो को, जगत् सब बुराई को, ठीक कर देता है। यह मनुष्य को, मार्ग की सब बाधा कर, लक्ष्य पर पहुचा देता है। यदि वस्तुओं के सत्य और औचित्य त्य और ऋत) द्वारा हम आनद को पा लेते हैं तो साथ ही आनद ा हम वस्तुओ के औचित्य और सत्य को भी पा सकते हैं। सब वस्तुओ दिव्य तथा उचित आनद को प्राप्त कर लेने की यह मानवीय क्षमता नाम व स्वरूपवाले दिव्य रचयिता से ही सबध रखती है। जब वह ा' मनुष्य के मन और हृदय और प्राण (शक्तियो) और भौतिक सत्ता द्वारा लिंगित होता है, जब यह दिव्य स्वरूप (भग) मनुष्य द्वारा अपने र गृहीत किया जाता है, तब जगत् का आनद अपने आपको अभि- क्त करता है। (मत्र १)

यह दिव्य आनदोपभोक्ता वस्तुओ में, अपने आनद के जिस किसी भी पात्र विषय में, जिस आनद को ग्रहण करता है उसे कोई भी सीमित नहीं र सकता, कोई भी क्षीण नहीं कर सकता, न देव न ही दैत्य, न मित्र हीं शत्रु, न कोई घटित घटना न कोई इन्द्रियानुभव। क्योंकि उसके ासमान स्वराज्य को, स्वराज्यम्–अर्थात् सत्य-क्रम की असीम सत्ता में, ीम आनद में और विशालताओं में उसके अपने आपको पूर्णतया

धारित रखने को, उसके आत्माधिकृत रहने को–कोई भी क्षीण, सीमित या आहत नहीं कर सकता। (मंत्र २)

इसलिये वही है जो हवि-प्रदाता के लिये सात आनंदों, सप्त रत्ना, को प्राप्त कराता है। वह उन्हें हमपर प्रेरित, सुत कर देता है, क्योंकि ये सब जहां दिव्य सत्ता के अन्दर हैं वहां इस संसार में भी हैं, वे हमारे अंदर भी हैं और आवश्यकता केवल इस बात की है कि वे हमारी बाह्य चेतना पर प्रेरित कर दिये जायं, उत्पन्न कर दिये जायं। इस सप्तविध आनंद की समृद्ध और चित्र-विचित्र विपुलता, जो कि हमारी सत्ता के सभी स्तरों पर पूर्णता-युक्त रहती हैं, संपन्न हुए यज्ञ में भग सविता का भाग है अर्थात् उपभोग या हिस्सा है, और यही वह चित्र-विचित्र सम्पत्ति है जिसे ऋषि यज्ञ में दिव्य आनदोपभोक्ता को स्वीकृत करने द्वारा अपने और अपने साथियों के लिये पाना चाहता है। (मंत्र ३)

इसके बाद श्यावाश्व भग से यह प्रार्थना करता है कि वह उसे कृपा करके आज वह आनंद प्रदान करदे जो कि फलशून्य न हो बल्कि क्रिया-शीलता के फलों से लदा हो, आत्मा की प्रजा से समृद्ध हो, प्रजावत् सौभगम्। आनंद रचनाशील है, 'जन' है अर्थात् वह आनंद है जो कि जीवन को और विश्व को उत्पन्न करता है; आवश्यकता केवल इस बात की है कि वस्तुएं जो कि हमपर प्रेरित हों वे सत्य द्वारा संकल्पित रचना से युक्त हो और वह सब जो कि असत्य से, दिव्य सत्य के प्रति अज्ञान के कारण पैदा होनेवाले दुःस्वप्न से संबंध रखता है, दुष्वप्न्यम्, दूर हो जाये, हमारी सचेतन सत्ता से निकल जाये। (मन्त्र ४)

अगली ऋचा में वह दुःष्वप्न्यम् के आशय को और अधिक स्पष्ट कर देता है। जिसे वह चाहता है कि उसके पास से दूर हट जाये वह है सब प्रकार की बुराई, विश्वानि दुरितानि। 'सुवितम्' और 'दुरितम्' का वेद में शाब्दिक अर्थ है 'ठीक चाल' और 'गलत् चाल'। 'सुवितम्' है विचार और कर्म का सत्य, 'दुरितम्' है भूल या स्खलन; पाप और विप-रीतता। 'सुवितम्' है सुखपूर्ण चलन, परम सुख, आनंद का मार्ग; 'दुरितम्'

है विपत्ति, कष्ट, भूल और दुश्चलन का सब दुष्परिणाम। यह सब जो कि बुराई है, विश्वानि दुरितानि, उसका संबंध उस दु स्वप्न से है जिसे कि हमारे पास से दूर हटाया जाना है। भग उसे हटाकर उसके स्थान में हमारे पास उसे भेज देता है जो कि अच्छा है–भद्रम्, अच्छा इस अर्थ में कि वह परम सुख के अनुकूल है अर्थात् दिव्य उपभोग की सब शुभ और मंगलकारी वस्तुए, सत्य क्रिया, सत्य रचना का सुख। (मंत्र ५)

क्योकि भग सविता की रचना में, उसके पूर्ण और त्रुटिरहित 'सवन' में (यज्ञ में) ('सव', शब्द में दो अर्थ है, एक तो उत्पत्ति, रचना और दूसरा रस का क्षरण, देवो को सोमरस अर्पित करना), मनुष्य आनद द्वारा पाप व दोष से मुक्त होकर, अनागस, अदिति की दृष्टि में निर्दोष हो जाते है, उन्मुक्त आत्मा की अविभक्त और असीम चेतना के योग्य हो जाते है। आनद उस स्वतत्रता के कारण उनके अदर विश्वव्यापी होने योग्य हो जाता है। वे इस योग्य हो जाते है कि अपने विचार द्वारा आनद की सब वस्तुओ को, विश्वा वामानि, ग्रहण कर सके; क्योकि 'धी' में, उस प्रज्ञा में जो कि ग्रहण करनेवाली और क्रमबद्ध करनेवाली है, विश्व का सब उचित क्रम रहता है, उचित सबंध का, उचित प्रयोजन का, उचित प्रयोग का और उचित परिपूर्णता का बोध होता रहता है, सब वस्तुओ के अदर दिव्य और सुखपूर्ण अर्थ दिखलायी देता है। (मंत्र ६)

यज्ञकर्ता आज जिसे भग सविता के नाम से पवित्र मत्रो द्वारा अपने अदर ग्रहण करना चाह रहे है वह है विश्वव्यापी देव, सत् का वह अधिपति जिससे कि सब वस्तुए सत्य के रूप में रची गयी है। यह वह रचयिता है जिसकी रचना है सत्य, जिसका यज्ञ है मानवीय आत्मा में अपने निजी आनद के, अपने दिव्य और त्रुटिरहित सुख के, वर्षण द्वारा सत्य की वृद्धि कर देना। वह सूर्य सविता सत्य के अधिपति के रूप में दोनो के सम्मुख जाता है, रात्रि और उषा के, अव्यक्त चेतना और व्यक्त चेतना के, जागृत सत्ता और अवचेतन तथा अतिचेतन

सत्ता के, जिनकी पारस्परिक अत क्रिया हमारी सब अनुभूतियो को रचती है, और अपनी गति में वह किसी को उपेक्षित नहीं करता, कभी बे-ध्यान नहीं होता, कभी स्खलन को प्राप्त नहीं होता। वह दोनो के सम्मुख जाता है, अवचेतन की रात्रि के अदर से दिव्य प्रकाश को निकाल लाता है, सचेतन के अनिश्चित या विकृत प्रतिबिम्बो को उस प्रकाश की देदीप्यमान किरणो में परिवर्तित कर देता है, और सदा ही विचार उचित रूप में रखा जाता है। सब त्रुटियो का मूल है अनुचित विनियोग, सत्य का अनुचित रूप में स्थापन, अनुचित क्रम प्रदान, अनुचित सबध, समय और स्थान में, विषय और क्रम में अनुचित स्थितिकरण। परन्तु सत्य के अधिपति में ऐसी कोई त्रुटि, ऐसा कोई स्खलन, ऐसा कोई अनौचित्यपूर्ण स्थापन नहीं होता। (मत्र ७, ८)

सविता सूर्य, जो कि भग है, असीम के और (हमारे अदर और बाहर के) विरचित लोको के बीच में स्थित होता है। सब वस्तुओ को, जिन्हें कि रचनाशील चेतना के अदर उत्पन्न होना है, वह विज्ञान के अदर ग्रहण करता है, वहा वह उस ज्ञान के द्वारा जो कि अवतरण करते हुए शब्द को श्रवण करता है और ग्रहण करता है, इन्हें इनके उचित स्थान में दिव्य लय के साथ स्थापित करता है और इस प्रकार वह इन्हें वस्तुओ की गति के अदर प्रेरित कर देता है, आश्रावयति श्लोकेन प्र च सुवाति। जब हमारे अदर क्रियाशील आनद की प्रत्येक रचना, प्रजावत् सौभगम्, इस प्रकार वस्तुओ की त्रुटिरहित लय के साथ ज्ञान द्वारा गृहीत होकर और ठीक ठीक श्रवण की जाकर, अव्यक्त में से बाहर निकलती है तब हमारी वह रचना भग सविता की रचना होती है, और उस रचना के सब जन्म, हमारे बच्चे, हमारी सन्तानें, प्रजा, अपत्य, हो जाते हैं आनद की वस्तुए, विश्वा वामानि। यह है मनुष्य के अदर भग का कार्य, विश्व-यज्ञ में होनेवाला उसका पूर्ण भाग।

# वायु, प्राणशक्तियों का अधिपति

ऋग्वेद, मण्डल ४, सूक्त ४८

विहि होत्रा अवीता विपो न रायो अर्यः।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥१॥

(रायः विपः) आनंद के अभिव्यंजक, और (अर्यः न) कर्म के कर्त्ता की तरह, तू (अवीता होत्रा) अव्यक्त पड़ी यज्ञिय शक्तियों को (विहि) व्यक्त कर दे; (वायो) हे वायु, (चन्द्रेण रथेन) सुखमय प्रकाश के अपने रथ में चढकर (आयाहि) तू आ, (सुतस्य पीतये) सोमरस को पीने के लिये॥१॥

निर्युवाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥२॥

(अशस्तीः) सब अनभिव्यक्तियों को (निर्युवाणः) अपने पास से दूर हटाता हुआ (नियुत्वान्) अपने 'नियुत' घोड़ों सहित और (इन्द्रसारथिः) इन्द्र को सारथि के रूप में लेकर [हे वायु, सुखमय प्रकाश के अपने रथ में चढ़कर तू आ, सोमरस को पीने के लिये।] ॥२॥

अनु कृष्णे वसुधिती येमाते विश्वपेशसा।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥३॥

दोनों जो कि (कृष्णे) अन्धकारावृत हैं, तो भी (वसुधिती) सब ऐश्वर्यों को धारण किये हुए हैं, और (विश्वपेशसा) जिनके अन्दर सब रूप हैं (अनुयेमाते) अपने प्रयत्न में तेरा अनुसेवन करेंगे। [आ, हे वायु, सुखमय प्रकाश के अपने रथ में चढ़कर तू आ, सोमरस को पीने के लिये।] ॥३॥

वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥४॥

(युक्तासः) जुते हुए (मनोयुजः) मन द्वारा जोते जानेवाले (नवतिः नव) निन्यानवे [घोड़े] (त्वा वहन्तु) तुझे वहन करें। [हे वायु, सुखमय प्रकाश के अपने रथ पर चढ़कर तू आ, सोमरस को पीने के लिये।] ॥४॥

वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्।
उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा ॥५॥

(वायो) ओ वायु, तू (शतं हरीणाम्) अपने सौ चमकीले घोड़ों को (पोष्याणाम्) जो कि पोष्य हैं, जिन्हें बढ़ाया जाना है (युवस्व) नियुक्त कर दे, (उत वा) अथवा (ते सहस्रिणः रथः) हजार [घोड़ों] से युक्त तेरा रथ (पाजसा) अपने अति वेग के साथ (आयातु) आवे ॥५॥

भाष्य

वैदिक ऋषियों के अध्यात्मसम्बन्धी आलोचन प्रायःकर एक आश्चर्यजनक गूढ़ता को लिये हुए हैं और सबसे अधिक गूढता वहां है जहां कि वे अवचेतन के अंदर से उद्भूत होती हुई मन और प्राण की सचेतन क्रियाशीलताओं की घटना का वर्णन करते हैं। यहा तक कहा जा सकता है कि यह विचार ही उस समृद्ध और सूक्ष्म दर्शन (Philosophy) का सारा आधार है जो (दर्शन) ज्ञान की उस प्राचीन उषा में इन अन्तःप्रेरणायुक्त रहस्यवादियों द्वारा आविष्कृत किया गया था। और ऋषि वामदेव ने जैसी सूक्ष्मता तथा उत्तमता के साथ इसे व्यक्त किया है उससे बढकर कोई और नहीं कर सका है, यह ऋषि गंभीरतम द्रष्टाओं में से एक है और साथ ही वैदिक युग के मधुरतम गायकों में से है। उसके सूक्तो में से एक, चतुर्थ मंडल का अंतिम सूक्त, सचमुच सबसे अधिक महत्त्व की कुंजी है जो कि उस प्रतीकवाद को खोलने के लिये हमें मिलती है जिस प्रतीकवाद ने यज्ञ के रूपको के पीछे उन अध्यात्मसंबंधी अनुभवों व बोधों के वास्तविक रूपो को छिपा रखा है जिन्हें आर्य पूर्वज इतना अधिक पवित्र मानते थे।

उस सूक्त में वामदेव अवचेतन के उस समुद्र का वर्णन करता है जो हमारे जीवन और क्रियाशीलता आदि सबके आधार में है। उस

समुद्र में से संवेदनात्मक सत्ता की 'मधुमय' लहर उठती है, जो अपने असिद्ध आनंद के बोझ से अभी मुक्त नहीं हुई है, वह 'घृत' और 'सोम' से भरपूर होकर अर्थात् उस विशुद्ध मानसिक चेतना तथा उस प्रकाशमान आनंद से भरपूर होकर जो ऊपर से आता है, ऊपर उठती है अमरता के आकाश की ओर। मानसिक चेतना का 'गुह्य नाम', वह जिह्वा जिससे देवता जगत् का स्वाद लेते हैं, और अमरता की नाभि, वह आनद ही है जिसका कि प्रतीक 'सोम' है*। क्योंकि सारी रचना अवचेतन के अंदर मानो चार सींगोंवाले बैल, दिव्य पुरुष, द्वारा उद्वमन कर दी गयी है, जिसके चार सींग हैं असीम सत्ता (सत्), चेतना (चित्), सुख (आनंद) और सत्य (विज्ञान)†। प्रागैतिहासिक युग की प्राचीन रहस्यमयी और प्रतीकात्मक कला के अवशेषभूत, उच्च कोटि के विसंगत वचनों और विचित्र से अलंकारों की स्मृति करा देनेवाले, बहुत ही प्रबल परस्परविरोधवाले रूपकों में, वामदेव हमारे सामने पुरुष का वर्णन एक बैल के रूप में करता है, जिसके चार सींग हैं और ये हैं, चार दिव्य तत्त्व; तीन पैर या तीन टांगें हैं जो हैं तीन मानवीय तत्त्व—मनोवृत्ति, प्राणमय सक्रियता और भौतिक स्थूल तत्त्व; दो सिर हैं, अर्थात् आत्मा और अनात्मा की, या पुरुष और प्रकृति की, द्विविध चेतना; सात हाथ हैं, अर्थात् सप्तविध प्राकृतिक क्रियाएं, जो कि सात लोकों के अनुसार हुआ करती हैं। "तीन स्थानों

---

*समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥ ४.५८.१
(समुद्रात्) समुद्र से (मधुमान् ऊर्मिः) मधुमय लहर (उदारत्) उठती है, (अंशुना) इस सोम द्वारा मनुष्य (अमृतत्वम्) अमरता को (उप सं आनट्) पूर्ण रूप से पा लेता है। (यत्) जो सोम (घृतस्य गुह्यं नाम) निर्मलता का गुह्य नाम, (देवानां जिह्वा) देवों की जिह्वा, (अमृतस्य नाभिः) अमृत की नाभि (अस्ति) ह।

†चतु:शृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्॥४.५८.२

में बद्ध–अर्थात् मन में बद्ध, प्राणशक्तियो में बद्ध, शरीर में बद्ध–वह बैल जोर से शब्द करता है; वह महान् देव मर्त्यों के अदर प्रविष्ट हुआ हुआ है*।"

क्योकि "घृतम्" अर्थात् मनोवृत्ति का वह निर्मल प्रकाश जो सत्य को प्रतिबिंबित करता है, पणियो द्वारा, निम्न ऐन्द्रियिक क्रिया के-अधिपतियो द्वारा, छिपा लिया गया है और अवचेतन के अदर बद कर दिया गया है; हमारे विचारो में, हमारी इच्छाओ में, हमारी भौतिक चेतना में, तीनो स्थानो में, प्रकाश और आनद स्थापित किये हुए है, पर वे हमसे छिपा लिये गये है। देवता गौ के अदर, जो गौ ऊपर से आनेवाले प्रकाश का प्रतीक है, इस 'घृतम्' की शुद्ध धाराओं को पाते हैं†। ये धाराए, ऋषि कहता है, वस्तुओ के हृदय से, अवचेतन के समुद्र से, हृद्यात् समुद्रात्, उठती है, पर उन्हें शत्रु वृत्र ने सैंकडो बाडो में घेर लिया है, ताकि वे विवेक की आख से बची रहें, उस ज्ञान से बची रहें जो ज्ञान हमारे अदर उसे प्रकाशित कर देने का यत्न करता है जो कि अप्रकाशित छिपा पडा है, और उसे मुक्त कर देना चाहता है जो कि बद पडा है‡। आशुगामिनी होकर भी घनीभूत हुई हुई, वातमय क्रिया से सीमित हुई हुई, प्राण-शक्ति वायु की छोटी छोटी रचनाओ में परिणत होती हुई, वातप्रमिय, ये धाराए मार्ग में अवचेतन की सीमाओ पर चलती है। सचेतन हृदय और मन की अनुभूतियो द्वारा उत्तरोत्तर पवित्र की जाती हुई ये प्रकृति की शक्तिया अत में दिव्य सकल्प रूप अग्नि के साथ परिणय के योग्य हो जाती है, जो अग्नि उनकी सीमाओ को तोड गिराता है और स्वय उनको उन लहरो से जो अब प्रचुर हो गयी है पोषित किया

*चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥४.५८.३
†त्रिधा हित पणिभिर्गुह्यमान गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्॥४.५८.४
‡एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रात् शतव्रजा रिपुणा नावचक्षे॥४.५८.५

जाता है§। यह है जीवन की क्रांति जिससे कि मर्त्य प्रकृति अमरता में परिणत होने की तैयारी करती है।

सूक्त की अंतिम ऋचा में वामदेव सारी सत्ता को इस रूप में वर्णित करता है कि वह ऊपर दिव्य पुरुष के धाम में, नीचे अवचेतन के समुद्र में तथा जीवन में, धामन् ते ...अन्त समुद्रे हृदि अन्तरायुषि, अधिश्रित है। तो सचेतन मन ही वह प्रणाली है, वह मध्यवर्त्ती साधन है, जिसके द्वारा ऊर्ध्वसमुद्र और अधःसमुद्र में, अतिचेतन और अवचेतन में, दिव्य प्रकाश और प्रकृति के प्रारंभिक अंधकार में परस्पर संबंध स्थापित होता है।

वायु है जीवन का देवता। प्राचीन रहस्यवादी ऋषि जीवनतत्त्व को यह समझते थे कि वह एक महान् शक्ति है जो सारी भौतिक सत्ता में व्यापक है और इसकी सब चेष्टाओं का कारण है। यही विचार है जो पीछे जाकर प्राण, जगद्व्यापक जीवन-श्वास, के स्वरूप में परिणत हो गया। मनुष्य की सारी जीवनसूचक या वातजन्य चेष्टाएं प्राण की परिभाषा के अंदर आ जाती हैं और वे वायु के साम्राज्यक्षेत्र से संबंधित हैं। तो भी औरों की तुलना में ऋग्वेद में इस महान् देवता के सूक्त थोड़े से ही हैं और उन सूक्तों तक में जिनमें कि इसका मुख्य रूप से आवाहन किया गया है यह प्रायः अकेला नहीं किंतु अन्यों के साथ में आया है, और वह भी इस तरह कि यह उनके आश्रित है। विशेषतया वह 'इन्द्र' के साथ जोड़ा गया है और यह भी प्रायः देखने में आवेगा कि मानो वैदिक ऋषि उससे जो कार्य लेना चाहते थे उसमें उसे (वायु को) उस उच्चतर देव की (इन्द्र की) सहायता अपेक्षित होती थी। जब

§सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य (मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः) ॥४.५८.६
सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन् ऊर्मिभिः पिन्वमानः ॥४.५८.७

मनुष्य के अंदर जीवन-शक्तियों की दिव्यक्रिया का प्रश्न होता है तब वायु का स्थान वैदिक अश्व या दधिक्रावा के रूप में प्रायः अग्नि ले लेता है।

यदि हम ऋषियों के आधारभूत विचारों को देखें तो वायु की यह स्थिति स्पष्ट समझ आ जाती है। उच्च सत्ता के द्वारा निम्न सत्ता का, दिव्य के द्वारा मर्त्य का, प्रकाशित होना उनका मुख्य विचार था। प्रकाश और शक्ति, गौ और अश्व ये यज्ञ के उद्दिष्ट पदार्थ थे। शक्ति थी आवश्यक शर्त, प्रकाश था मुक्त करानेवाला तत्त्व; और 'इन्द्र' तथा 'सूर्य' उस प्रकाश के मुख्य लानेवाले थे। इसके अतिरिक्त, वह अपेक्षित शक्ति दिव्य संकल्प रूप था जो सब मानवीय शक्तियों पर अधिकार कर लेता और अपने आपको उनमें प्रकट कर देता था; और इस संकल्प का, वातमय प्राणशक्ति पर अधिकार कर लेने और अपने आपको उसमें प्रकट कर देनेवाले सचेतन बल की इस शक्ति का, प्रतीक 'वायु' से बढ़कर अग्नि था और विशेषकर दधिक्रावा अग्नि। क्योंकि अग्नि ही है जो तपस् का, अपनेको जगद्व्यापक शक्ति के रूप में व्यवस्थित करनेवाली दिव्य चेतना का, अधिपति है, प्राण उसका केवल निम्न सत्ता में रहनेवाला एक प्रतिनिधि है। इसलिये वामदेव के चतुर्थ मण्डल के ५८वें सूक्त में इन्द्र, सूर्य और अग्नि ही हैं जो कि अवचेतन के अंदर से सचेतन दिव्यता की महती अभिव्यक्ति को करनेवाले हैं। वात या वायु, प्राणसंबंधी क्रिया, मन की, उद्भूत होते हुए मन की केवल एक प्रथम शर्त है। और मनुष्य के लिये वायु का महत्त्वपूर्ण कार्य है यह कि 'प्राण का मन के साथ मिलन हो और वह प्राण मन के उद्भव में, विकास में सहायता प्रदान करे। यह कारण है कि हम, इन्द्र जो कि मन का अधिपति है, और वायु, जो कि प्राण का अधिपति है, को इकट्ठा जुड़ा हुआ और वायु को कुछ अंशों में इन्द्र के आश्रित हुआ पाते हैं; मरुत, विचार-शक्तियां, यद्यपि मूलतः वे जितनी इन्द्र की शक्तियां प्रतीत होते हैं उतनी ही वायु की भी, तो भी ऋषियों के लिये वे स्वयं वायु की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और वे अपने क्रियाशील स्वरूप में भी वायवीय सेनाओं के इस प्राकृतिक मुखिया

(वायु देवता) की अपेक्षा अग्नि रुद्र के साथ कहीं अधिक निकटता से सबंधित हैं।

यह प्रस्तुत, चतुर्थ मण्डल का ४८वा, सूक्त उन तीन में अंतिम है, जिनमें वामदेव सोम-रस को पीने के लिये इन्द्र और वायु का आवाहन कर रहा है। वे सम्मिलित रूप से प्रकाशमान शक्ति के दो देवताओ, शवसस्पती*, के रूप में पुकारे गये हैं, जैसे कि इससे पूर्व के मण्डल में आनेवाले एक अन्य सूक्त (१ २३ ३) में उन्हे विचार के देवता, धियस्पती, के तौर पर आवाहन किया गया है। इन्द्र है मानसिक शक्ति का देवता, वायु हैं यातिक या प्राणसबधी शक्ति का, और उन दोनो का सम्मिलन विचार के लिये तथा क्रिया के लिये आवश्यक है। उन्हे आमन्त्रित किया गया है कि वे एक ही रथ में चढकर आवे और मिलकर उस आनद के रस का पान करें जो अपने साथ देवत्व प्रदान करनेवाली शक्तियो को लाता है†। वायु, कहा गया है कि, प्रथम घूट को पीने का अधिकारी है‡, क्योकि विधारक प्राणशक्तिया ही हैं जिन्हे अवश्य सर्वप्रथम दिव्य क्रिया के आनद को ग्रहण करने योग्य हो जाना चाहिये।

इस तीसरे सूक्त में, जिसमें कि यज्ञ का परिणाम वर्णित किया गया है, वायु अकेला आवाहन किया गया है§, पर इस अवस्था में भी इन्द्र के साथ उसकी सहचारिता स्पष्टतया दर्शा दी गयी है। उसे कहा गया है कि वह सुखमय प्रकाश के रथ में चढ़कर, जैसे कि एक दूसरे सूक्त में यही उषा को कहा गया है, अमृतकारक रस को पीने के लिये आवे¶। रथ प्रतीक है शक्ति की गति का और यह है पहले से ही प्रकाशमान

---

*४.४७ ३

†दिविष्टिषु

‡४.४६.१

§इससे पहले के दोनो सूक्तो ४६, ४७ के देवता 'इन्द्रवायू' सम्मिलित हैं।

¶वायो आ चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये।

प्राणशक्तियो की प्रसन्न गति जिसे वायु के रूप में आवाहन किया गया है। इस प्रकाशमान सुखमय गति की दिव्य उपयोगिता प्रथम तीन ऋचाओ में बतलायी गयी है।

इस देव को अभिव्यक्ति करनी है—उसे उन यज्ञिय शक्तियो को जो कि अब तक अभिव्यक्त नही हुई हैं, अब तक अवचेतन के अधकार में छिपी पडी है, सचेतन क्रिया के प्रकाश में लाना है*। कर्मकाण्डपरक व्याख्या के अनुसार वाक्य का यह अनुवाद किया जा सकता है, "उन हवियो का तू भक्षण कर जो अभक्षित पडी है", या 'वी' धातु का दूसरा अर्थ 'पहुचना' ले तो अर्थ कर सकते है, "उन यज्ञिय शक्तियो के पास तू पहुच जिनके पास नहीं पहुचा गया है", पर प्रतीक रूप में इन सब अनुवादो का निष्कर्ष वही आध्यात्मिक अर्थ निकलता है। शक्तियों और क्रियाओं को, जिन्हे अब तक अवचेतन के अदर से बाहर नहीं निकाला गया है, इन्द्र तथा वायु की सम्मिलित क्रिया के द्वारा उस गहन गुफा के भीतर से मुक्त कराना है और फिर उन्हे कर्म में विनियुक्त कराना है।

क्योकि यह प्राणमय मनोवृत्ति की सामान्य क्रिया नहीं है जिसके प्रति उन्हें बुलाया गया है। वायु को इन शक्तियो को इस रूप से अभिव्यक्त करना है जैसे कि वह "कोई परमानद का अभिव्यञ्जक, कोई आर्य कर्म का कर्ता" हो, विपो न रायो अर्य। ये शब्द पर्याप्त रूप से उन शक्तियो का स्वरूप दर्शा देते है जिन्हें उद्बुद्ध किया जाना है। तो भी यह सभव है कि यह वाक्य गूढ रूप से इन्द्र की तरफ सकेत करता हो† और इस प्रकार यह दर्शाता हो, जो कि बाद में स्पष्ट तौर पर ही व्यक्त हो गया है, कि यह आवश्यक है कि वायु की क्रिया उस अधिक प्रकाशमान

---

*विहि होत्रा अवीता।

†'विपो न रायो अर्य' इस वाक्याश का यदि यह अनुवाद करें "आनद का अभिव्यञ्जक जो अर्य (इन्द्र) है उसकी तरह" तू भी।

देव (इन्द्र) की प्रकाशपूर्ण और अभीप्सायुक्त शक्ति से नियन्त्रित हो। क्योंकि यह इन्द्र का ही प्रकाश है जो कि परम आनद के प्रकट होने के रहस्य को प्राप्त करा देता है और वह (इन्द्र) इस महान् कार्य में सर्वप्रथम प्रयास करनेवाला है। देवों में से इन्द्र, अग्नि और सूर्य के लिये ही विशेषत 'अर्य' शब्द व्यवहृत हुआ है, एक ऐसी गहनार्थता को अपने अदर रखता हुआ जो कि शब्दानुवाद में प्रकट नहीं की जा सकती यह 'अर्य' शब्द उन्हें सूचित करता है जो कि उच्च अभीप्सा के लिये उद्यत होते है और जो भद्र तथा आनद को पाने के लिये एक हवि प्रदान के रूप में महान् यत्न करते है।

दूसरी ऋचा में इन्द्र की पथप्रदर्शिता की आवश्यकता स्पष्ट रूप से पुष्ट कर दी गयी है। वायु को उन सब नकारो को जो कि अनभिव्यक्त की अभिव्यक्ति के विरोध में हो सकते है परे हटाते हुए आना है, निर्युवाणा अशस्ती। 'अशस्ती' का शाब्दिक अर्थ है 'अभिव्यक्तियो का न होना' और इससे प्रकट होता है आच्छादक शक्तियो, जैसे वृत्र, द्वारा उन प्रकाश और शक्ति का निरोध कर लिया जाना जो कि देवो के प्रभाव द्वारा और शब्द के कर्तृत्व द्वारा अभिव्यक्ति में आने को तैयार पड़े हैं, प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रहे है। शब्द है वह शक्ति जो कि अभिव्यक्त करती है, शस्यम्, गी, वाच। परतु इस बात की आवश्यकता होती है कि दिव्य शक्तियां द्वारा शब्द की रक्षा की जाय और इसे इसका उचित कर्तृत्व प्रदान किया जाय। यह कार्य वायु को करना है, उसे नकारो को, बाधाओ को, अनभिव्यक्ति की सब शक्तियो को बाहर निकाल देना है। इस कार्य को करने के लिये 'नियुत' घोडो सहित और इन्द्र को सारथिरूप में लेकर, नियुत्वान् इन्द्रसारथि, उसे अवश्यमेव पहुचना है। इन्द्र के, वायु के, सूर्य के तीनो के घोड़ा के अपने अपने यथोचित नाम है। इन्द्र के घोडे है हरि या बभ्रु अर्थात् अरुणवर्ण के या भूरे, सूर्य के हरित, जिससे अपेक्षाकृत अधिक गहरा, पूर्ण और घना चमकीलापन सूचित होता है, वायु के नियुत है अर्थात् नियुक्त होनेवाले घोडे क्योकि ये उन क्रियावान् गतियो के द्योतक है जो शक्ति को उसकी क्रिया में नियुक्त कर देती है। पर यद्यपि

हैं तो वे वायु के घोड़े, पर हांके जाते हैं इन्द्र से अर्थात् वातमय और प्राणमय शक्ति के देव की गतियां मन के देव के द्वारा परिचालित होती हैं।

तीसरी ऋचा* पहले पहल कुछ ऐसी लगती है कि इसमें एक असंबद्ध सा विचार चल पड़ा; इसमें अंधकारावृत और सब रूपों को अपने अंदर रखनेवाले द्यावापृथिवी का वर्णन है जो अपने प्रयत्न में वायु की गतियों के आज्ञानुवर्ती होते हैं या उनका अनुसरण करते हैं, जो वायु इन्द्र से हांके जानेवाले रथ पर बैठा है। उनका यहां नामोल्लेख नहीं किया गया है पर इस रूप में वर्णन है कि कोई दो हैं जो काले या अंधकारावृत हैं और वसु या ऐश्वर्य को अपने अंदर रखे हुए, वसुधिती, हैं; परंतु 'वसुधिती' शब्द के प्रयोग से पर्याप्त स्पष्ट तौर पर यह पता चल जाता है कि यह पृथिवी (वसुधा) है और क्योंकि द्विवचनांत प्रयोग है इसलिये उसके साथ उसका सहचर द्यौ भी आ जाता है। यह हमें ध्यान में ले आना चाहिये कि यहां जिनका उल्लेख है वे पिता द्यौ और माता पृथिवी नहीं हैं, परंतु दो बहिनें, रोदसी, द्यौ व पृथिवी के स्त्री-रूप, हैं जो कि मानसिक तथा भौतिक चेतना की सामान्य शक्तियों की प्रतीक हैं। यह उनकी अंधकारमय अवस्थाएं—मानसिक और भौतिक इन अपनी दो सीमाओं के बीच की अंधकारावृत चेतना—हैं जो वातमय क्रियाशीलता की प्रसन्न गति द्वारा वायु की गति के अनुसार या वायु के नियंत्रण के नीचे यत्न करने लगती हैं और अपने छिपे पड़े रूपों को व्यक्त करने लग पड़ती हैं; क्योंकि सभी रूप उनके अंदर छिपे पड़े हैं और अवश्य ही उन्हें उनको व्यक्त करने के लिये बाध्य किया जाना चाहिये। इस प्रकार हमें स्पष्ट हो जाता है कि यह ऋचा अपनी पूर्ववर्ती दो ऋचाओं के भाव को पूर्ण करनेवाली ही है। क्योंकि सदा ही जब वेद को समुचित रूप में समझ लिया जाता है तो इसकी ऋचाएं एक गंभीर युक्तियुक्त संगति के साथ और अर्थपूर्ण क्रम के साथ विचार को खोलती हुई दिखलायी देती हैं।

---

*अनु कृष्णे वसुधिती येमाते विश्वपेशसा।

अवशिष्ट दो ऋचाएं वर्णन करती हैं उस परिणाम को जो द्यौ और पृथिवी को इस क्रिया से, और जब वायु का रथ द्रुत वेग से आनद की ओर दौड़ता है उस समय की वायु की गति पर जो वे (द्यावापृथिवी) छिपे पड़े रूपों को और अनभिव्यक्त शक्तियों को व्यक्त करने लग पड़ते हैं उससे जनित होता है। सर्वप्रथम उसके घोड़ों की अपनी सामान्यतया पूर्ण सरल संख्या को पा लेना है। "निन्यानवे घोड़े, जो मन द्वारा जोते जाते हैं, नियुक्त किये जायं और वे तुझे वहन करें*।" बार बार आनेवाली निन्यानवे, सौ और हजार की संख्याएं वेद में एक प्रतीकात्मक अर्थ को रखती हैं, जिसे ठीक ठीक रूप से खोल सकना बड़ा कठिन है। रहस्य संभवतः यह है कि सात की रहस्यपूर्ण संख्या को उसी से गुणन करके जो उनचास की संख्या आती है उसे दुगना करके और उसके शुरू में और अंत में एक की संख्या जोड़ने से सौ की संख्या बनती है, १+४९+४९+१=१००। सात है अभिव्यक्त प्रकृति के मुख्य तत्त्वों की संख्या, दिव्य चेतना के सात रूप जो कि विश्व-लीला में कार्य करते हैं। प्रत्येक पृथक् पृथक् लिया जाय तो अपने अंदर बाकी छहों को रखता है; इस प्रकार पूर्ण संख्या ७×७ अर्थात् ४९ हो जाती है, और इसमें वह ऊपर की एक की संख्या और जोड़ दी जाती है जिसमेंसे सब कुछ विकसित होता है, तो सब मिलाकर पचास का प्रमाण (scale) हो जाता है जो कि सक्रिय चेतना का पूर्ण पैमाना बनता है। पर साथ ही आरोह और अवरोह की शृंखला से इस (एक के साथ जुड़नेवाली ४९ की संख्या) का द्विगुणीकरण भी होता है, अवरोह देवों का, आरोह मनुष्य का। इससे निन्यानवे (१+४९+४९) की संख्या बनती है जो वेद में विविध रूप में घोड़ों, नगरों, नदियों के लिये, प्रत्येक स्थिति में एक जुदा किंतु सजातीय प्रतीकवाद को लिये हुए, प्रयुक्त की गयी है। यदि हम नीचे एक की उस अंधकारावृत संख्या, जिसके अंदर सब कुछ अवरोहण करके आता है, को ऊपर उस

---

*वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव।

प्रकाशमय संख्या के साथ, जिसकी तरफ सब आरोहण करके जाता है, और जोड दें तो एक सौ का पूरा प्रमाण (scale) बन जाता है।

इसलिये यह है चेतना की एक सम्मिश्र (न कि सरल) शक्ति जो कि वायु की गति के परिणामस्प उत्पन्न होती है, यह है उस मानसिक क्रिया की पूर्णतम गति का उद्भव हो जाना, जो कि मानसिक क्रिया अभी मनुष्य के अंदर केवल निगूढ और संभव की अवस्था में है,–मन द्वारा जोते जानेवाले निन्यानवे घोडों का नियुक्त किया जाना। और अगली ऋचा में ऊपरवाली अंतिम एक की संख्या जोड दी गयी है। यहा हम सौ घोडे देखते हैं, और क्योंकि क्रिया अब पूर्ण प्रकाशमान मनोवृत्ति की हो गयी है इसलिये ये घोडे, यद्यपि वे अब भी वायु और इन्द्र को वहन करते हैं, अब केवल 'नियुत्' नहीं रहे किंतु 'हरि' हो गये हैं, जो कि इन्द्र के चमकदार घोडों का रंग है। "ओ वायु, तू सौ चमकीले घोडों को नियुक्त कर, जो कि पोष्य हैं, जिनको बढाया जाता है†।"

पर 'पोष्य' क्यों हैं, बढायें जाने योग्य क्यों हैं? क्योंकि सौ तो विविधतया संयुक्त गतियों की सरल पूर्णता को ही सूचित करता है, पर उनकी पूरी सम्मिश्ररूपता को नहीं। सौ में से प्रत्येक को दस से गुणित किया जा सकता है, सब अपने निज निज प्रकार से वर्धित या पोषित किये जा सकते हैं, क्योंकि 'पोष्याणाम्' शब्द से जो वृद्धि सूचित होती है वह इसी स्वरूप की है। इसलिये ऋषि कहता है कि या तो तू सौ की सरल पूर्णता के साथ आ जो कि बाद में बढ़कर दशगुणित सौ अर्थात् हजार की पूर्ण सम्मिश्ररूपता को प्राप्त हो जायगी, या यदि तेरी इच्छा हो तो एकदम हजार के साथ आ जा और अपनी गति को इसकी संपूर्ण संभावित शक्ति के पूरे वेग में आ जाने दे‡। जिसे वह चाह रहा है वह है पूर्णत वैविध्ययुक्त, सबको अपनी परिधि में ले लेनेवाला, सबको शक्ति प्रदान

---

†वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्।

‡उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा।

करनेवाला मानसिक प्रकाश जो सत्ता, शक्ति, सुख, ज्ञान, मनोवृत्ति, प्राण-शक्ति, भौतिक क्रियाशीलता की अपनी पूर्ण उन्नति से युक्त है। क्योंकि यदि यह प्राप्त हो जाय तो अवचेतन बाध्य हो जाता है कि वह पूर्णता-प्राप्त मन की इच्छा पर अपने सब छिपे पड़े हुए संभाव्य रूपों को मुक्त कर देवे ताकि पूर्णताप्राप्त जीवन (प्राण) की समृद्ध और प्रचुरतापूर्ण गति हो सके।

नवा अध्याय

# बृहस्पति, आत्मा की शक्ति

ऋग्वेद, मण्डल ४, सूक्त ५०

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥१॥

(यः बृहस्पतिः) जिस बृहस्पति ने (त्रिषधस्थ.) हमारी परिपूर्णता के त्रिविध लोक में स्थित होकर (रवेण) आवाज द्वारा (सहसा) अपनी शक्ति से (ज्मः अन्तान्) पृथिवी के अंतो को (वि तस्तम्भ) थाम दिया है (तम्) उसपर (प्रत्नासः ऋषयः) प्राचीन ऋषियों ने (दीध्यानाः) ध्यान लगाया था और (विप्राः) प्रकाशपूर्ण होकर (मन्द्रजिह्वम्) आनंदमयी जिह्वावाले उसको (पुरः दधिरे) उन्होंने अपने आगे निहित किया था ॥१॥

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥२॥

(बृहस्पते) हे बृहस्पति! (धुनेतयः) अपनी गति के अन्तर्वेग के कंपनों से कंपित होते हुए (सुप्रकेतं मदन्तः) पूर्णताप्राप्त चेतना में आनंद लेते हुए (ये) जिन्होंने अर्थात् उन ऋषियो ने (पृषन्तम्) प्रचुर (सृप्रम्) तीव्र (अदब्धम्) अजय्य (ऊर्वं) विशाल (योनिम्) उस लोक को जिसमेंसे कि यह सत्ता पैदा हुई थी (नः अभि ततस्रे) हमारे लिये बुन दिया है। (बृहस्पते) हे बृहस्पति! (अस्य रक्षतात्) उसकी तू रक्षा कर ॥२॥

बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥३॥

(बृहस्पते) हे बृहस्पति! (या परमा परावत्) जो सर्वोच्च परम सत्ता है उसे (अतः) यहा से, इस लोक से (ते ऋतस्पृशः) वे जो सत्य-स्पर्शी हैं (आ) प्राप्त करते हैं और (निषेदुः) उसमें निषण्ण हो जाते

हैं। (तुभ्यं अवताः खाताः) तेरे लिये [शहद के] कुएं खुदे हुए हैं (अद्रिदुग्धाः) जो इस पहाड़ी में से रिस रहे हैं, और (मध्वः) उनके मधुर रस (अभितः विरप्शं श्चोतन्ति) निकलकर चारों तरफ उमड़ उमड़कर बह रहे हैं ॥३॥

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि ॥४॥

(बृहस्पतिः) बृहस्पति (महो ज्योतिषः) विपुल ज्योति में से, (परमे व्योमन्) सर्वोच्च द्यौ लोक में, (प्रथमं जायमानः) सर्वप्रथम प्रादुर्भूत होता हुआ, (सप्तास्यः) जो सात मुखोंवाला है (सप्तरश्मिः) सात किरणोंवाला है (तुविजातः) बहुत से जन्मोंवाला है, (रवेण) अपनी आवाज से (तमांसि) उन अंधकारों को जो हमें घेरे हुए हैं (वि अधमत्) पूर्णतया दूर कर देता है ॥४॥

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं ररोज फलिगं रवेण।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ॥५॥

(सः) उस बृहस्पति ने (सुष्टुभा गणेन) स्तुति करनेवाले स्वरताल के गण से, (सः ऋक्वता गणेन) उसने प्रकाशमान गीतों के गण से (रवेण) आवाज के साथ (वलं फलिगं ररोज) 'वल' के टुकड़े टुकड़े कर दिये। (बृहस्पतिः हव्यसूदः उस्रियाः उदाजत्) बृहस्पति उन प्रकाशवती [गौओं] को जो कि हमारी हवियों को प्रेरणा देती हैं ऊपर हांक ले जाता है, (कनिक्रदत्) जब वह उनको ले जा रहा होता है तब वह जोर से गर्जता है, (वावशतीः) उन गौओं को जो रंभाकर उसका प्रत्युत्तर देती हैं ॥५॥

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

(एव) इस प्रकार (पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे) उस पिता, सार्वभौम देव, वृषा [वृषभ] के लिये, (यज्ञैः नमसा हविर्भिः) यज्ञों से, नमन से, हवियों से (विधेम) आओ, हम समर्पण करें। (बृहस्पते) हे बृहस्पति, (वीरवन्तः) वीरता से अनुप्राणित, और (सुप्रजाः) संततियों से समृद्ध होते हुए (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम आनंदों के अधिपति हो जावें ॥६॥

स इद् राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण।
बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम् ॥७॥

(स इद् राजा) निश्चय ही वह राजा है (शुष्मेण वीर्येण) अपनी शक्ति से, अपनी वीरता से (विश्वा प्रतिजन्यानि अभितस्थौ) लोकों के अंदर जो भी मुकाबिला करनेवाले हैं उन सबको परास्त कर देता है, (यः बृहस्पतिं सुभृतं बिभर्ति) जो बृहस्पति को अपने अंदर सुभृत रूप में धारण कर लेता है और (वल्गूयति) आनंद में नाचने लगता है (वन्दते पूर्वभाजम्) और अपने आनंदोपभोग के प्रथम फलों को उसे अर्पित करता हुआ उसकी वन्दना करता है॥७॥

स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति ॥८॥

(स इत् सुधितः) हां, वह सुस्थित होकर (स्वे ओकसि क्षेति) अपने निजी घर में निवास करता है, (तस्मै इळा विश्वदानीं पिन्वते) उसके लिए इळा हर समय वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। (तस्मै विशः स्वयमेव नमन्ते) उसके प्रति सब प्रजाएं स्वयमेव नत हो जाती हैं (यस्मिन् राजनि) जो राजा है और जिसके अंदर (ब्रह्मा) आत्मा की शक्ति (पूर्व एति) आगे आगे चलती है॥८॥

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥९॥

(अप्रतीतः) वह अनाक्रान्त रहता है (धनानि संजयति) सब धनों को पूर्णतया जीत लेता है जो कि (प्रतिजन्यानि) उन लोकों के हैं जो उसके सम्मुख होते हैं (उत या सजन्या) और जो उस लोक के हैं जिसमें वह रहता है, (अवस्यवे ब्रह्मणे) अपनी अभिव्यक्ति को चाहनेवाली आत्म शक्ति के लिये (यः वरिवः कृणोति) जो अपने अंदर सर्वोच्च भद्र को रचता है (तं देवा अवन्ति) उसकी देव पालना करते हैं॥९॥

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम् ॥१०॥

(बृहस्पते इन्द्रश्च) हे बृहस्पति! तू और इन्द्र (सोमं पिबतम्) सोमरस को पिओ, (अस्मिन् यज्ञे मन्दसाना) इस यज्ञ में आनद लेते हुए, (वृषण्वसू) ऐश्वर्य को बरसाते हुए। (इन्दवः वा आविशन्तु) इस सोमरस के आनंद की शक्तियां तुम्हारे अंदर प्रविष्ट हो, और वे (स्वाभुवः) अपने पूर्ण रूप को प्राप्त हों, (अस्मे सर्ववीरं रयिं नियच्छतम्) हमारे अंदर उस आनंद को जो सब प्रकार की शक्ति से परिपूर्ण है, नियंत्रित कर दो॥१०॥

बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः॥११॥

(बृहस्पते इन्द्र) हे बृहस्पति! हे इन्द्र! (वर्धतं नः सचा) तुम दोनों एक साथ हमारे अंदर वृद्धि को प्राप्त होओ (सा वां सुमतिः) वह तुम दोनों की सुमति-मन की परिपूर्णता (अस्मे भूतु) हमारे अंदर विरचित हो जाय; (धियः अविष्टम्) विचारों की पालना करो (पुरन्धीः जिगृतम्) मन की बहुविध शक्तियों को प्रकट कर दो; (अरातीः) सब दरिद्रताओं को, (अर्यः वनुषाम्) जो कि उन द्वारा लायी जाती हैं जो आर्यों को जीतकर अपने वश में कर लेना चाहते हैं (जजस्तम्) विनष्ट कर दो॥११॥

### भाष्य

बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, ब्रह्मा ये तीन नाम उस देव के हैं जिसे संबोधित करके ऋषि वामदेव ने यह रहस्यमय स्तुति-गीत गाया है। बाद की पौराणिक देववंशावली में बृहस्पति और ब्रह्मा अलग-अलग देवता हो गये हैं। ब्रह्मा है स्रष्टा, जो कि उन तीन देवों में से एक है जो मिलकर पौराणिक देवत्रयी को बनाते हैं; बृहस्पति वहां कोई बहुत महत्त्व का देवता नहीं रह गया है, वह देवों का आचार्य है और प्रसंगतः बृहस्पति नामक ग्रह का संरक्षक है; ब्रह्मणस्पति जो कि बृहस्पति और ब्रह्मा दोनों को जोड़नेवाली बीच की कड़ी था, विलुप्त ही हो गया है। इन वैदिक देवों के स्वरूप का पुनरुद्धार करने के लिये हमें फिर से उस शृंखला को जोड़ना होगा जो कि टूट चुकी है और इन दोनों नामों के परस्पर वियो-

जित हो जाने से गलत हुए मूल्यों को मूलभूत वैदिक विचार के प्रकाश में ठीक करना होगा।

'ब्रह्मन्' वेद में सामान्यत 'वैदिक शब्द' या 'मंत्र' का वाची है— 'वैदिक शब्द' गभीरतम अर्थ में, अर्थात् आत्मा की या सत्ता की गहराइयों के अदर से उठता हुआ अत प्रेरणा का शब्द। यह एक तालबद्ध शब्द ही है जिस ने लोको को सृजा है और सदैव सृजन कर रहा है। सारा जगत् एक प्रकाशन है या अभिव्यजन है, सृजन है जो शब्द द्वारा किया गया है। सचेतन सत्ता जब अपनी वस्तुओ को अपने अदर अपने आप ही, त्मना, प्रकाशमान रूप में व्यक्त कर रही होती है तब अतिचेतन (supercons- cient) होती है, जब अपनी वस्तुओ को धुधले रूप में अपने अदर छिपाये रखती है तब अवचेतन (subconscient) होती है। जो उच्चतर है, स्वत प्रकाशमान है, वह अस्पष्टता में, रात्रि में, अधकार से ढके अधकार, तम तमसा गूढम्, में उतरता है जहा कि चेतना के खडो में विभक्त होने के कारण से सब कुछ रूपरहित सत्ता के अदर छिपा पडा है, तुच्छयना-भ्वपिहितम्। शब्द के द्वारा यह उस रात्रि के अदर से निकलकर फिर ऊपर उठता है, चेतन में उसकी विशाल एकता को पुन· विरचित करने के लिये, तन्महिना-अजायत-एकम्। यह विशाल सत्ता, यह सबको अपने अदर रखने- वाली, सबको सृजनेवाली चेतना 'ब्रह्म' है। यह आत्मा है जो मनुष्य के अदर अवचेतन के अदर से उद्भूत होती है और ऊर्ध्वमुख होकर अतिचेतन की ओर जाती है। और सर्जक शक्ति का शब्द जो कि आत्मा में से निकलकर ऊपर की तरफ जाता है वह भी 'ब्रह्मन्' है।

यह देव अपने आप को आत्मा की सचेतन शक्ति के रूप में व्यक्त करता है, शब्द के द्वारा अवचेतन के जलो में से लोको को रचता है— 'अवचेतन के जल', जैसा कि महत्त्वपूर्ण सृष्टिसूक्त (ऋग्० १०.१२९) में स्पष्ट रूप में इन्हें यह नाम दिया गया है, 'अप्रकेतं सलिलं सर्वम्— अचेतन समुद्र जो सब कुछ था'। इस देव की यही शक्ति 'ब्रह्मा' है, इस 'ब्रह्मा' नाम में जो बल है वह सचेतन आत्म-शक्ति पर ही अधिक पडता

है अपेक्षा उस शब्द के जो इस आत्म-शक्ति को प्रकट करता है। चेतन मानव-सत्ता के अंदर भिन्न भिन्न लोकस्तरों की अभिव्यक्ति होती होती अत में जहा तक पहुचती है वह है अतिचेतन की, सत्य और आनद की, अभिव्यक्ति और यह (अतिचेतन की) अभिव्यक्ति ही परम शब्द का या वेद का अधिकार है, विशेष कार्य है। इस परम शब्द का बृहस्पति अधिपति है, 'बृहस्पति' नाम में जो बल है वह शब्द की शक्ति पर अधिक पडता है अपेक्षाकृत उस सामान्य आत्म-शक्ति के विचार के जो कि इसके पीछे रहती है। बृहस्पति देवों को और मुख्यत इन्द्र को जो कि 'मन' *का अधिपति है, ज्ञान का शब्द, अतिचेतन का तालबद्ध शब्दाभिव्यञ्जन,* प्रदान करता है, जब कि वे (देव) मनुष्य के अदर महान् सिद्धि के लिये 'आर्य'-शक्तियो के रूप में कार्य करते हैं। यह आसानी से समझ में आ सकता है कि किस प्रकार इन दोनो देवो का विचार पौराणिक प्रतीक-वाद में आकर ब्रह्मा स्रष्टा तथा बृहस्पति सुराचार्य इस विशेष रूप में आ गया जहा इनका अर्थ यद्यपि कुछ विस्तृततर हो गया पर साथ ही कम सूक्ष्म और कम गभीर भी हो गया। 'ब्रह्मणस्पति' इस नाम में ये दोनों विभिन्न बल एक हो गये हैं और बराबर हो गये हैं। यह उसी एक देव के सामान्य और विशेष रूपो के बीच में उन्हें जोडनेवाला नाम है।

बृहस्पति वह है जिसने पृथिवी की अर्थात् भौतिक चेतना की सीमाओं और परिच्छिन्नताओ को दृढता के *साथ थाम लिया है।* वह सत्ता जिसमें से सब रचनाए बनायी गयी है एक धुधली, तरल और अनिश्चयात्मक गति है,–'सलिलम्' अर्थात् 'पानी' है। प्रथम आवश्यकता यह है कि इस तरल, बहते हुए और अस्थिर में से एक कामलायक स्थायी रचना की जाय ताकि चेतन के जीवन के लिये एक आधार तैयार हो सके। यह काम बृहस्पति भौतिक चेतना तथा इसके लोक के निर्माण के रूप में करता है,–करता है शक्ति द्वारा, सहसा, अवचेतन के प्रतिरोध पर एक प्रकार का जबर्दस्त बल डालकर। इस महान् रचना को वह निष्पन्न करता है मन, प्राण, शरीर के त्रिगुणित लोक को दृढ स्थापित करके, जो मन,

प्राण, शरीर तीनों विश्वव्यापी कार्य तथा सिद्धि के इस जगत् में सदा इकट्ठे रहते हैं और एक दूसरे में समाविष्ट (निवर्त्तित) रहते हैं या एक दूसरे में से उद्भूत (विवर्तित) होते रहते हैं। ये तीनों मिलकर 'अग्नि' के त्रिगुणित स्थान (धाम) को बनाते हैं और वहां बैठकर वह परिपूर्णता या निष्पत्ति के उत्तरोत्तर कार्य को, जो कि यज्ञ का लक्ष्य है, सिद्ध करता है। बृहस्पति रचना करता है शब्द द्वारा, अपनी आवाज (पुकार) द्वारा, 'रवेण', क्योंकि शब्द आत्मा की उस समय की आवाज (पुकार) ही है जब कि वह सदा-नवीन बोधों और निर्माणों के लिये जागृत होता है। 'बृहस्पति ने शक्ति द्वारा पृथिवी के अंतों को दृढ़ता के साथ थाम दिया, परिपूर्णता के त्रिगुणित धाम में स्थित होकर अपनी आवाज के द्वारा', य तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पति. त्रिषधस्थो रवेण।

उस (बृहस्पति) पर, कहा गया है कि, पुरातन या प्राचीन ऋषियों ने ध्यान लगाया; ध्यान से वे मन में प्रकाशपूर्ण हो गये; प्रकाशपूर्ण होकर उन्होंने उसे अपने आगे निहित किया, आनंदमयी जिह्वावाले देवता, मन्द्रजिह्वम् के रूप में,—आनंदमयी जिह्वा अर्थात् वह जिह्वा जो कि सोम के मदजनक रस, 'मद, मधु' का आनंद लेती है, मधुरता की उस लहर, मधुमान् ऊर्मि, का आनद लेती है जो कि सचेतन सत्ता के अंदर छिपी पड़ी थी और धीरे धीरे क्रमश. इसमें से निकालकर बाहर लायी गयी है*। पर प्रश्न यह है कि यह किन के विषय में कहा गया है? क्या ये वे सात दिव्य ऋषि, ऋषयो दिव्या, हैं जो चेतना को उसके सातों स्तरों में से प्रत्येक में सिद्ध करके और उन स्तरों को इकट्ठा समस्वर करके जगत् के विकास का निरीक्षण किया करते हैं, अथवा ये वे मानव पितर, पितरो मनुष्या, हैं जिन्होंने सबसे पहले उच्च ज्ञान को खोजकर पाया था और मनुष्य के लिये सत्य-चेतना की असीमता को विरचित

*तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्।

किया था? दोनो में से कोई भी क्यो न अभिप्रेत हो, पर सकेत अपेक्षाकृत मानव पितरो, पूर्वजो, द्वारा की गयी सत्य की विजय की ओर ही अधिक प्रतीत होता है। 'दीध्याना' शब्द के वेद में दोनो अर्थ होते है, एक तो चमकना, प्रकाशमान होना और दूसरा विचारना, ध्यान करना, विचार में केन्द्रित करना। इस शब्द का प्रयोग भी सतत रूप से द्व्यर्थकतावाले वैदिक अद्भुत अलकार के साथ हुआ है। पहले अर्थ की दृष्टि से इसका सबध 'विप्रा' के साथ जुडता है, और भाव यह निकलता है कि ऋषि बृहस्पति की विजयशाली शक्ति के द्वारा विचार में अधिकाधिक प्रकाशमान (दीध्याना) होते चलते है और अत में जाकर वे विप्रा (प्रकाशपूर्ण) बन जाते है। दूसरे अर्थ में इसका सबध 'इधिरे' के साथ होगा और भाव यह निकलेगा कि ऋषि उन अतर्ज्ञानों पर जो कि बृहस्पति की पवित्र और प्रकाशपूर्ण शब्दरूपी आवाज के द्वारा आत्मा में से ऊपर उठते है, ध्यान लगाकर, उन्हें विचार में दृढता के साथ थामकर (दीध्याना), मन में प्रकाशपूर्ण हो गये जो मन पराचेतन के पूर्ण अत प्रवाह के लिये खुला हुआ था। इस प्रकार वे आत्मा के विचारों की उस क्रियाशीलता को जो कि सदा पीछे रहकर, पर्दे से ढकी रहकर, काम करती है, सचेतन सत्ता के सम्मुख ले आने में और इसे *अपने स्वभाव की मुख्य क्रिया बना लेने में समर्थ हो गये। परिणामत बृहस्पति उनके अदर सत्ता के आनद को, अमरता के रस को, परम-आनद को उनके लिये आस्वादन करने योग्य हो गया।* नियत भौतिक चेतना का निर्माण पहली सीढी है, अतर्ज्ञान-युक्त आत्मा को अपनी सचेतन क्रियाओ के नेता के रूप में मन में आगे ले आने के द्वारा दिव्य आनद के प्रति यह जागरण हो जाना सिद्धि-प्राप्ति है या कम से कम इस सिद्धि की शर्त है। (देखो, मत्र प्रथम)

परिणाम होता है मनुष्य के अदर सत्य चेतना का निर्मित हो जाना। प्राक्तन ऋषियो ने गति के तीव्रतम कपनो को पा लिया है, चेतना के जल की सबसे अधिक पूर्ण और वेगवती धारा जो कि हमारी क्रिया

शील सत्ता की घटक होती है अब अंधकाराच्छन्न नहीं रही है, जैसे कि अवचेतन के अंदर थी, किंतु पूर्ण चेतना के उल्लास से भरपूर हो गयी है,–सृष्टिसूक्त (१०.१२९) में वर्णित समुद्र की तरह वह 'अप्रकेतम्' नहीं रही, किंतु 'सुप्रकेतम्' हो चुकी है। उन (प्राक्तन) ऋषियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है 'धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तः'। मानवीय मनोवृत्ति के अंदर अपने भरपूर प्रकाश और आनंद से युक्त हुई हुई चेतना की क्रियाओं के इस वेग को प्राप्त करके उन्होंने मानवजाति के लिये इन वेग-युक्त, प्रकाशमय और उल्लासयुक्त बोधों के तंतुओं से सत्य-चेतना को, ऋत बृहत् को बुना है, जो कि इस सचेतन सत्ता का गर्भ या उत्पत्ति-स्थान है। क्योंकि पराचेतन में से ही निकलकर सत्ता अवचेतन के अंदर अवतरित होती है और अपने साथ उसे लिये होती है जो कि यहां व्यक्तिगत मानव सत्ता, चेतन आत्मा, के रूप में उद्भूत हो जाता है। इस सत्य-चेतना की प्रकृति अपने आप में यह होती है कि यह अपने उत्सेचन में प्रचुर होती है, पृषन्तम्, या (इसका यह अर्थ हो सकता है) अपने समस्वरतायुक्त गुणों के वैविध्य की दृष्टि से बहुरूप होती है; अपनी गति में यह तीव्र होती है, सृप्रम्; उस प्रकाशपूर्ण तीव्रता के द्वारा यह उस सबपर विजय पा लेती है जो इसे परास्त करना या तोडना चाहता है, यह अदब्धम् होती है; सबसे बढ़कर यह कि यह विशाल, बृहत्, असीम होती है, ऊर्वम्। इन सब रूपों में यह पहली सीमित गति से उलटी है जो कि अवचेतन के अंदर से निकलती है; क्योंकि वह होती है परिमित और धूसर, मंद और निगड़ित, प्रतिद्वन्द्वी-शक्तियों के विरोध द्वारा आसानी से पराजित और नष्टभ्रष्ट हो जानेवाली, क्षेत्र की दृष्टि से अविस्तीर्ण तथा सीमित। पर मनुष्य के अंदर व्यक्त हुई हुई यह सत्य-चेतना न-माननेवाली शक्तियों के, वृत्रों के, 'वल' के, विद्रोह के कारण फिर उससे अंधकाराच्छन्न हो सकती है। इसलिये ऋषि बृहस्पति से प्रार्थना कर रहा है कि तू अपनी आत्म-शक्ति की परिपूर्णता के द्वारा उस संभावित अंधकाराच्छन्नता से मेरी रक्षा कर। (देखो, मंत्र दूसरा)

यह सत्य-चेतना उस परावेतन का मूल आधार है जिसका कि स्वरूप आनद है। यह पराचेतन या परम, परमा परावत्, ही है, उपनिषदो का परम परार्ध है, सच्चिदानद की सत्ता है जिसमें से मानव सत्ता अवतरित हुई है। इसी सर्वोच्च सत्ता की ओर वे, इस भौतिक चेतना से, अत, ऊपर उठ जाते हैं, जो पुरातन ऋषियो की तरह सत्य-चेतना के साथ सस्पर्श करते हैं, बृहस्पत या परमा परावत् अत आ ते ऋतस्पृशो नि षदु। वे इसे अपना धाम और घर, क्षय, ओकस्, बना लेते हैं। क्योंकि भौतिक सत्ता की पहाडी में आत्मा के लिये वे माधुर्य से लबालब भरे कुऍं खुदे हैं जो इस पहाडी की दारुण कठोरता के अदर से छिपे पडे आनद को निकाल लाते हैं, सत्य का सस्पर्श होने पर शहद की नदिया, अमृत रस के वेगयुक्त झरने, क्षरित होने और प्रवाहित होने लगते हैं और मानवीय चेतना के समस्त धरातल पर प्रचुरता की बाढ के रूप में फूट पडते है, तुभ्य खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्व श्चोतन्ति अभितो विरप्शम्। (देखो, मत्र तीसरा)

इस प्रकार बृहस्पति, देवो में सर्वप्रथम, सत्य चेतना के उस प्रकाश की बृहत्ता के अदर से, उच्च पराचेतन के उस सर्वोच्च दिव्य धाम में, 'महो ज्योतिष परमे व्योमन्', व्यक्त होकर अपने आपको हमारी चेतन सत्ता के पूर्ण सप्तविध रूप (सप्त-आस्य) में प्रकट करता है, स्थूल भौतिकता से लेकर विशुद्धतम आध्यात्मिकता तक क्रमबद्ध हुए अपने सातो लोकों की अत क्रीडा के समस्त रूपो में अनेक प्रकार से पैदा (बहुजात) होकर, उनकी उस सप्तविध रश्मि से, जो कि हमारे सब उपरिस्तरो तथा समस्त गहन-स्तरो को प्रकाशित करती है, प्रकाशमान होकर प्रकट होता है और अपनी विजयशाली आवाज से रात्रि की सब शक्तियो को, अचेतन के समस्त आक्रमणो को, सब सभव अधकारो को निराकृत तथा छिन्न भिन्न कर देता है। (देखो, मत्र चौथा)

शब्द की शक्तियो द्वारा, आत्म शक्तियो के स्वरतालबद्ध गण द्वारा यह होता है कि बृहस्पति सबको अभिव्यक्त करता तथा उन सारे

अधकारो को जो हमें घेरे हुए हैं, दूर करके रात्रि को समाप्त कर देता है। ये (गण) वेद के "ब्रह्मा" हैं जो कि शब्द से, 'ब्रह्म' या 'मन्त्र' से, आविष्ट या पूरित होते हैं, ये वे हैं जो यज्ञ में दिव्य 'ऋक्' को, 'स्तुभ्' या 'स्तोम' को द्यौ की तरफ उठाते हैं। 'ऋक्' जिसका सबध प्रकाश या चमक्वाची 'अर्क' शब्द से है, वह शब्द है जो प्रकाशकारक चेतना में रहनेवाली सिद्धिदायक शक्ति समझा जाता है, 'स्तुभ्' वह शब्द है जो वह शक्ति समझा जाता है जो कि वस्तुओ के नियमित स्वर-ताल के अदर स्तुति करती तथा दृढीकरण करती है। यह जिसे कि व्यक्त होना है चेतना में साधित, स्तुत और अततोगत्वा शब्द की शक्ति द्वारा दृढीकृत होता है। 'ब्रह्मा' गण या ब्राह्मण-शक्तिया शब्द के पुरोहित हैं, दिव्य स्वरताल द्वारा रचना करनेवाले हैं। उन्हीं की आवाज द्वारा बृहस्पति 'वल' को टुकडे-टुकडे कर देता है।

जैसे वृत्र वह शत्रु, वह दस्यु, है जो कि चेतन सत्ता के सप्तविध जलो के प्रवाह को रोक लेता है–अचेतन का मूर्त रूप है, वैसे ही वल वह शत्रु, वह दस्यु, है जो अपने बिल, अपनी गुफा (बिलम्, गुहा) में प्रकाश की गौओ को रोक लेता है, वह अवचेतन का मूर्त रूप है। वल अपने आप में अधकारपूर्ण या अचेतन नहीं है, किंतु अधकार का कारण है। बल्कि अधिक ठीक तो यह है कि उसके अदर का पदार्थ प्रकाशवाला है, वल गोमन्तम्, वल गावपुषम, किंतु वह उस प्रकाश को अपने ही अदर रोक रखता है और इसकी सचेतन अभिव्यक्ति को नहीं होने देता। उसे तोडकर टुकडे-टुकडे कर देना आवश्यक होता है, ताकि उसके अदर छिपी पडी हुई ज्योतिया मुक्त होकर बाहर आ सकें। उनके छुटकारे को यहा इस तौर पर कहा गया है कि बृहस्पति उन ज्योतिष्मनियों को, उषा की गौओ को (उस्रिया) नीचे भौतिकता की पहाडी की गुफा में से छुडाकर बाहर निकाल लाता है और उन्हें ऊपर हमारी सत्ता की ऊचाइयो की तरफ हाक देता है जहा पर कि उनके साथ तथा उनकी सहायता से हम चढ जाते हैं। वह उन्हें पराचेतन ज्ञान की वाणी से पुकारता है, वे

सचेतन अतर्ज्ञान (conscious intuition) के प्रत्युत्तर के साथ उसका अनुसरण करती हैं। वे अपने गतिक्रम में क्रियाओ को अतर्वेग प्रदान कर देती हैं जो क्रियाए यज्ञ की सामग्री का रूप धारण करती हैं और देवो को अर्पित की जानेवाली हविया बनती हैं और ये भी ऊपर ले जायी जाती रहती हैं जब तक कि वे उसी दिव्य लक्ष्य तक नहीं पहुच जातीं। (देखो, मत्र पाचवा)

यह स्वत प्रवर्तनशील आत्मा, यह बृहस्पति, पुरुष है, सब वस्तुओ का पिता है, यह विश्वव्यापी देव है, यह वृषभ है, इन सब प्रकाशमय शक्तियो का अधिपति और जनक है जो विकसित (विवर्तित) हैं या अन्तर्निहित (निवर्तित) हैं, जो दिन में सक्रिय होती हैं या वस्तुओ की रात्रि में धुधले रूप से कार्य करती हैं, जिनसे कि यह सभूति या जगत्-सत्ता, 'भुवनम्', बनी है। बृहस्पति नाम से इसी पुरुष के प्रति ऋषि प्रवर्तित यज्ञ में हमसे हमारे जीवन (सत्ता) की सभी सामग्रियो को उत्सर्ग कराना चाह रहा है, उस यज्ञिय कर्म द्वारा जिसमें कि वे पूजा और समर्पण के साथ भेंट की गयी, स्वीकार की जाने योग्य हवियो के तौर पर उस सर्वात्मा के प्रति अर्पित कर दी जाती हैं। यज्ञ के द्वारा हम इस देव की कृपा से जीवन के सग्राम के लिये वीरोचित शक्ति से भरपूर हो जायगे, आत्मा की प्रजा में समृद्ध और उन आनदो के अधिपति हो जायगे जो आनद दिव्य प्रकाशमयता तथा सत्य क्रिया द्वारा अधिगत होते हैं। (देखो, मत्र छठा)

क्योकि आत्मा की शक्ति तथा अतिक्रामक शक्ति उस मनुष्य के अदर पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, जो मनुष्य कि अपने अदर इस सचेतन आत्म-शक्ति (बृहस्पति) को, जो कि प्रकृति में नेत्री-शक्ति के रूप में आगे लायी जा चुकी हो, धारण कर लेता है तथा दृढ़ता के साथ धारण किये रखने में समर्थ होता है, जो मनुष्य कि इस द्वारा आन्तरिक गतियो की त्वरित तथा आनदपूर्ण गति तक पहुच जाता है, जैसे कि प्राचीन ऋषि पहुचा करते थे, अपने अदर प्राण के घोडे की उन जैसी समस्वरतायुक्त प्लुतगति और वल्गित (दुलक-चाल) को अधिगत कर लेता है, तथा सदैव

इस देव को, इसे सब परिणतियो तथा आनदभोगो के प्रथम फलो को अर्पित करता हुआ, पूजा करता है। उस शक्ति (आत्मा की शक्ति) द्वारा वह उसपर हावी हो जाता है और उस सबपर प्रभुत्व पा लेता है जो कि जन्मो में, लोको में, चेतना के स्तरो में उसके सम्मुख आता है— चेतना के उन स्तरो में जो कि जीवन की प्रगति में उसके अनुभव के आगे खुल पडते है। वह राजा, सम्राट्, हो जाता है, अपनी जगत्परि-स्थितियो पर शासन करनेवाला हो जाता है। (देखो, मत्र सातवा)

क्योकि ऐसा ही आत्मा अपने स्वकीय घर में, सत्य चेतना में, असीम अखण्डता में, एक दृढस्थित सत्ता को प्राप्त करता है, और उसके लिये हर समय इडा, सर्वोच्च वाणी, सत्य चेतना की मुख्य शक्ति, —वह इडा जो विज्ञान के अदर सीधी स्वत प्रकाशयुक्त दृष्टि (revealing vision) के रूप में आती है, और उस ज्ञान के अदर क्रिया, परिणाम तथा अनुभूति का जो वस्तुगत सत्य है उसको स्वत स्फुरित अन्त प्राप्ति बन जाती है— निरतर शरीर में तथा प्रचुरता में वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। उसके प्रति सब प्रजाए स्वयमेव नत हो जाती है, वे उसके अदर विद्यमान सत्य के वशवर्ती हो जाती है क्योकि यह सत्य और उन प्रजाओ के अदर का सत्य एक ही होता है। क्योकि सचेतन आत्म शक्ति, जो कि विराट् रचयित्री तथा साधयित्री है, उसकी सब क्रियाओ में नेतृत्व करती है। यह (आत्म शक्ति) उसे सब प्रजाओ के साथ उसके सबधो में सत्य का पथप्रदर्शन प्रदान करती है और इसलिये वह एक पूर्ण तथा स्वत स्फूर्त्त सिद्धहस्तता के साथ उन (प्रजाओ) पर क्रिया करता है। यही मनुष्य की आदर्श स्थिति है कि आत्म-शक्ति, बृहस्पति, ब्रह्मा, जो आध्यात्मिक ज्योति तथा आध्यात्मिक मत्री है, उसका नेतृत्व करे और वह अपने आपको इन्द्र, क्रिया का राज-देवता, अनुभव करता हुआ अपने आपपर तथा अपनी सब प्रजा पर उनके सम्मिलित सत्य के अधिकार से शासन करे। ब्रह्मा राजनि पूर्व एति। (देखो, मत्र आठवा)

यह ब्रह्मा, यह रचनाशील आत्मा, अपने आपको मानव स्वभाव के राजत्व (राजापन) में व्यक्त करने तथा परिवर्द्धित करने का यत्न करता

है और वह मनुष्य जो कि प्रकाश तथा शक्ति के उस राजत्व (राजापन) को अधिगत कर लेता और अपने अंदर ब्रह्मा के लिये उस सर्वोच्च मानवीय भद्र को रच लेता है, अपने आपको सदा उन सब दिव्य विराट् शक्तियों द्वारा समृद्ध, पालित तथा संवर्द्धित पाता है जो शक्तियां परम सिद्धि-प्राप्ति के लिये कार्य करती हैं। वह आत्मा के उन सब धनों को जीत लेता है जो आत्मा के राजा हो जाने के लिये आवश्यक हैं, जो उसके निजी चेतना-स्तर से संबंध रखते हैं और जो उसके सम्मुख दूसरे चेतना-स्तरों से आकर उपस्थित होते हैं। कोई भी उसकी विजयशालिनी प्रगति पर आघात या आक्रमण नहीं कर सकता। (देखो, मंत्र नवां)

इन्द्र और बृहस्पति इस प्रकार दो दिव्य शक्तियां हैं जिनका हमारे अंदर परिपूर्ण हो जाना तथा *सत्य* को सचेतनतापूर्वक *आत्मसात्* कर लेना हमारी पूर्णता-प्राप्ति की शर्तें हैं। वामदेव उन्हें पुकार रहा है कि वे इस महान् यज्ञ में आकर अमर आनंद के रस का पान करें, इसके आनंदों के मद में आनंद लें, और आत्मा के सार पदार्थ तथा ऐश्वर्यों को प्रचुरता के साथ बरसा दें। पराचेतन आनद की वे वर्षाएं आत्म-शक्ति के अंदर प्रविष्ट तथा पूर्ण रूप से समवस्थित हो जानी आवश्यक हैं। इस प्रकार एक आनंद रचित हो जायगा, एक नियंत्रित समस्वरता प्राप्त हो जायगी जो कि उस पूर्ण प्रकृति की सभी शक्तियों तथा क्षमताओं से परिपूरित होगी जो प्रकृति अपनी तथा अपने लोक की स्वामिनी है। (देखो, मंत्र दसवां)

इसलिये बृहस्पति और इन्द्र हमारे अंदर वृद्धि को प्राप्त हो जायं और तब सत्य मनोवृत्ति की वह अवस्था जिसे कि वे दोनों मिलकर रचते हैं, व्यक्त हो जायगी; क्योंकि वह इसकी प्रथम शर्त है। वे दोनों उदित होते हुए विचारों की पालना करें तथा मानसिक सत्ता की उन शक्तियों को अभिव्यक्ति में ले आवें जो एक समृद्ध व बहुविध विचार के द्वारा सत्य-चेतना के प्रकाश तथा उसके वेग को पा लेने में समर्थ हो जाती हैं। वे शक्तियां जो आर्य योद्धा पर आक्रमण करती हैं यह चाहती हैं कि उसके अंदर मन की दरिद्रताओं को तथा आवेशात्मक प्रकृति की दरिद्रताओं को, सभी असुखों को,

रच दें। आत्म-शक्ति तथा मन शक्ति एक साथ चूड़िगत होकर इस प्रकार की समग्र दरिद्रता को तथा अपर्याप्तता को विनष्ट कर देती है। वे दोनो मिलकर मनुष्य को उसका राज-पद तथा उसका पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करा देती हैं। (देखो, मन ग्यारहवा)

दसवां अध्याय

# अश्वी देव—आनन्द के अधिपति

ऋग्वेद मण्डल ४, सूक्त ४५

एष स्य भानुरुदियर्ति युज्यते रथ परिज्मा दिवो अस्य सानवि।
पृक्षासो अस्मिन् मिथुना अधि त्रयो दृतिस्तुरीयो मधुनो वि रप्शते ॥१॥

(एष स्य भानु उदियर्ति) देखो, वह प्रकाश उदित हो रहा है और (दिव अस्य सानवि) इस द्यौ के उच्च धरातल पर (परिज्मा रथ युज्यते) सर्वव्यापी रथ को नियुक्त किया जा रहा है, (अस्मिन् अधि) इसके अदर (त्रय मिथुना पृक्षास) तीन युगलो में तृप्तिप्रद आनद [रखे गये हैं] और (तुरीय मधुन दृति) चौथी शहद की खाल (विरप्शते) परिस्रवित हो रही है ॥१॥

उद् वा पृक्षासो मधुमन्त ईरते रथा अश्वास उषसो व्युष्टिषु।
अपोर्णुवन्तस्तम आ परीवृत स्वर्ण शुक्र तन्वन्त आ रज ॥२॥

हे अश्वी देवो! (वा पृक्षास मधुमन्त उदीरते) तुम्हारे आनद शहद से भरपूर होकर ऊपर को उठते हैं, (रथा अश्वास) रथ और घोडे (उषस व्युष्टिषु) उषा के विपुल प्रकाशों में [ऊपर को उठते हैं], और वे (आ परीवृत तम) हर तरफ घिरे हुए अधकार के पर्दे को (अप-ऊर्णुवन्त) एक तरफ को समेट देते हैं और (रज) निम्न लोक को (स्व न शुक्र आ तन्वन्त) प्रकाशमान द्यौ जैसे चमकीले रूप में फैला देते हैं ॥२॥

मध्व पिबत मधुपेभिरासभिरुत प्रिय मधुने युञ्जाथा रथम्।
आ वर्तनि मधुना जिन्वथस्पथो दृति वहेथे मधुमन्तमश्विना ॥३॥

(मध्व पिबतम्) शहद का पान करो (मधुपेभि आसभि) शहद पीनेवाले मुखो से (उत) और (मधुने) शहद के लिये (प्रिय रथ युञ्जाथाम्) अपने प्रिय रथ को नियुक्त करो। (मधुना) शहद से (वर्तनि)

गतियों को ओर (पथः) उनके मार्गों को (आ जिन्वथः) तुम आनंदयुक्त करते हो; (अश्विना) हे अश्वी देवो! (मधुमन्तं दृति वहेथे) शहद से भरपूर वह खाल है जिसे तुम धारण करते हो॥३॥

हंसासो ये वां मधुमन्तो अस्रिधो हिरण्यपर्णा उहुव उषर्बुधः।
उदप्रुतो मन्दिनो मन्दिनिस्पृशो मध्वो न मक्षः सवनानि गच्छथः॥४॥

(हंसासः ये वां उहुवः) वे हंस जो तुम्हे वहन करते हैं (मधुमन्तः) शहद से भरे हैं (हिरण्यपर्णाः) सुनहरे पंखोंवाले हैं (उषर्बुधः) उषा के साथ जागनेवाले हैं (अस्रिधः) ऐसे हैं जिन्हे चोट नहीं पहुंचती; (उदप्रुतः) वे जलो को बरसाते हैं (मन्दिनः) आनंद से परिपूर्ण हैं (मन्दिनिस्पृशः) और उसे स्पर्श किये हुए हैं जो कि आनंदवान् है। (मक्षः मध्वः न) मधुमक्खिया जैसे मधु के स्राव के पास जाती हैं, वैसे तुम (सवनानि गच्छथः) सोम-रसो की हवियों के पास जाते हो॥४॥

स्वध्वरासो मधुमन्तो अग्नय उस्रा जरन्ते प्रति वस्तोरश्विना।
यन्निक्तहस्तस्तरणिर्विचक्षणः सोमं सुषाव मधुमन्तमद्रिभिः॥५॥

(मधुमन्तः अग्नयः) शहद से परिपूर्ण अग्नियां (स्वध्वरासः) यज्ञ को सुचारु रूप से वहन कर रही हैं, और वे (अश्विना) हे अश्वी देवो! (प्रति वस्तोः) प्रतिदिन (उस्रा जरन्ते) तुम्हारी ज्योति की याचना कर रही हैं (यत्) जब कि (निक्तहस्तः) पवित्र हाथोंवाले (विचक्षणः) पूर्ण दर्शन से युक्त (तरणिः) पार कराके लक्ष्य पर पहुंचानेवाली शक्ति से युक्त मनुष्य ने (अद्रिभिः) सोम निचोड़ने के पत्थरो से (मधुमन्तं सोमं सुषाव) मधुयुक्त सोमरस को निचोड़ लिया है॥५॥

आकेनिपासो अहभिर्दविध्वतः स्वर्ण शुक्रं तन्वन्त आ रजः।
सूरश्चिदश्वान् युयुजान ईयते विश्वाँ अनु स्वधया चेतथस्पथः॥६॥

(आके-निपासः) उनके समीप होकर सोमरस को पीती हुई [अग्नियां] (अहभिः) दिनो को पाकर (दविध्वतः) अत्यावृत्त हो जाती हैं और दौड़ने लगती हैं, और (रजः स्वः न शुक्रम् आ तन्वन्त) निम्न लोक को प्रकाशमान द्यौ जैसे चमकीले रूप में विस्तृत कर देती हैं। (सूरः चित्)

सूर्य भी (अश्वान् युयुजानः ईयते) अपने घोडो को जोतकर चल पडता है; (स्वधया) प्रकृति की आत्मनियमन की शक्ति के द्वारा तुम (चेतय) सचेतन होते हुए (विश्वान् पथ अनु) सब रास्तो पर चलते हो।*

प्र वामवोचमश्विना धियधा रथ स्वश्वो अजरो यो अस्ति।
येन सद्य परि रजासि याथो हविष्मन्त तरणि भोजमच्छ ॥७॥

(अश्विना) हे अश्वी देवो! (धियधा [अह] प्र-अवोचम्) अपने अदर विचार को धारण करते हुए मैने उसका वर्णन किया है (य वा) जो तुम्हारा (अजर) क्षीण न होनेवाला (स्वश्व) पूर्ण घोडो से खींचा जानेवाला (रथ अस्ति) रथ है,-(येन) जिस रथ के द्वारा, तुम (सद्य) एकदम से (रजासि परियाथ) सब लोको को पार कर आते हो, (भोज अच्छ) उस आनद को पाने के लिये (हविष्मन्तम्) जो हवियो से प्रचुरित है और (तरणिम्) जो पार कराके लक्ष्य को प्राप्त करा देनेवाला है ॥७॥

भाष्य

ऋग्वेद के वे सूक्त जो कि दो प्रकाशमान युगलों (अश्विनों) को सबोधित किये गये है, ऋभु देवतावाले सूक्तो की तरह, प्रतीकात्मक शब्दो से भरे पडे है और तब तक नहीं समझे जा सकते जब तक कि उनके प्रतीकवाद का कोई दृढ सूत्र हाथ न लग जाय। अश्विनों को कहे गये इन सूक्तो के तीन मुख्य अग ये है, एक तो उनके रथ, उनके घोडो तथा उनकी तीव्र सर्वव्यापी गति की प्रशसा, दूसरे उनका मधु का अन्वेषण करना तथा मधु का आनद लेना और वे तृप्तिप्रद आनद जिन्हें कि वे अपने रथ में लिये रहते है, तीसरे सूर्य के साथ, सूर्य की लडकी सूर्या के साथ तथा उषा के साथ उनका घनिष्ठ सबध का होना।

अश्वी देव अन्य देवो की तरह सत्य चेतना से, ऋतम् से उतरते है; वे द्यौ से, पवित्र मन से, पैदा या अभिव्यक्त होते है; उनकी गति सभी

---

*अथवा, तुम (विश्वान् पथ अनुचेतय) क्रमश सब रास्तो का ज्ञान प्राप्त करते हो।

लोकों को व्याप्त करती है,-उनकी क्रिया का प्रभाव शरीर से शुरू होकर प्राणमय सत्ता और विचार के द्वारा पराचेतन सत्य तक पहुचता है। वस्तुत यह समुद्र से, सत्ता की अनिश्चित अवस्था से, शुरू होता है, जब कि वह (सत्ता) अवचेतन के अदर से उद्भूत हो रही होती है और वे (अश्वी) आत्मा को इन जलो की बाढ़ के ऊपर (पोत की तरह) ले चलते है और इसकी समुद्रयात्रा में इसे जल में डूब जाने से रोकते हैं। इसलिये वे नासत्या हैं अर्थात् गति के अधिपति, यात्रा या समुद्रयात्रा के नेता।

वे मनुष्य की सहायता करते हैं उस सत्य द्वारा जो कि उन्हें विशेषत उषा के साथ, सत्य के अधिपति सूर्य के साथ और उसकी लडकी सूर्या के साथ साहचर्य से प्राप्त होता है, पर वे अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक रूप से अपने विशेष गुण के तौर पर सत्ता के आनद द्वारा उसकी सहायता करते हैं। वे आनद के अधिपति, शुभस्पती, हैं, उनका रथ या उनकी गति अपने सभी स्तरो में सत्ता के आनद की तृप्तियो से परिपूर्ण है, वे उस खाल को धारण किये हैं जो कि परिस्रवित होते हुए मधु से भरी हुई है, वे मधु का, मधुरता का, अन्वेषण करते हैं और सब वस्तुओं को उस (मधु) से भर देते हैं। वे इसलिये आनद की कार्यसाधक शक्तिया हैं, उस आनद की जो कि सत्य-चेतना के अदर से प्रसृत होता है और जो अपने आपको तीनो लोकों में विविध रूप से अभिव्यक्त करके मनुष्य को उसकी यात्रा में अवलम्ब देता है। इसलिये उनकी क्रिया सभी लोको में होती है। वे मुख्यतया घुडसवार या घोडे को हाकनेवाले, अश्विनू, हैं जैसा कि उनका नाम सूचित करता है,-वे मनुष्य के प्राणबल की यात्रा की चालकशक्ति के तौर पर प्रयुक्त करते हैं, पर साथ ही वे विचार के अदर भी कार्य करते हैं और उसे वे सत्य तक पहुचा देते हैं। वे शरीर को स्वास्थ्य, सौंदर्य, सपूर्णता प्रदान करते हैं, वे दिव्य भिषक् हैं। सब देवों में वे मनुष्य के पास आने के लिये और उसके लिये सुख व आह्लाद को विरचित करने के लिये सबसे अधिक तैयार रहते हैं,

आगमिष्ठा, शुभस्पती। क्योंकि यही उनका विशिष्ट और पूर्ण कार्य है। वे मुख्यत शुभ के, आनद के, अधिपति हैं, शुभस्पती।

अश्विनों का यह स्वरूप प्रस्तुत सूक्त में वामदेव द्वारा एक सतत बल के साथ दर्शाया गया है। प्राय प्रत्येक ऋचा में, सतत पुनरुक्ति के साथ, मधु, मधुमान्, शब्द आ जाते है। यह सत्ता की मधुरता का सूक्त है, यह सत्ता के आनद का एक गीत है।

यह महान्, प्रकाशा वा प्रकाश सत्य का सूर्य सत्य-चेतना का उजाला जीवन की गति में से ऊपर उठ रहा है, उस प्रकाशपूर्ण मन को, स्व को, रचने के लिये, जिसमें कि निम्न त्रिगुणित लोक अपने विकास की पूर्णता को प्राप्त होता है। एप स्य भानु उदियर्ति। मनुष्य के अदर इस सूर्य के उदय हो जाने से, अश्विनो की पूर्ण गति सभव हो जाती है, क्योंकि सत्य द्वारा ही सिद्ध आनद, द्युलोकीय आनद प्राप्त होता है। इसलिये अश्विनो का रथ इस द्यौ की ऊचाई पर, इस देदीप्यमान मन के उच्च धरातल या स्तर पर, जोता जा रहा है। वह रथ सर्वव्यापी है, इसकी गति सब जगह पहुचती है, इसका वेग हमारी चेतना के सब स्तरो के ऊपर स्वतन्त्रतापूर्वक सचरित होता है। युज्यते। रथ परिज्मा दिवो अस्य सानवि।

अश्विनो की पूर्ण सर्वव्यापी गति सत्ता के आनद को सभी सभव तृप्तियो की पूर्णता को ले आती है। इस बात को प्रतीकात्मक रूप में वेद की भाषा में यह कहकर व्यक्त किया गया है कि उनके रथ के अदर तृप्तिया, पृक्षास, तीन युगलो में उपलब्ध होती है, पृक्षास अस्मिन् मिथुना अधि त्रय। कर्मकाडी व्याख्या में 'पृक्षास' शब्द का अनुवाद इसके सजातीय शब्द प्रय की तरह 'अन्न' किया गया है। धात्वर्थ है आनद, परिपूर्णता, तृप्ति और इसमें 'स्वादुता' या तृप्तिप्रद भोजन का भौतिक अर्थ तथा आनद, भोग या तृप्ति का आध्यात्मिक अर्थ दोनो हो सकते है। फिर तृप्तिया या स्वादुताए जो कि अश्विनो के रथ में ले जायी जाती हैं तीन युगलो में हैं, अथवा इस वाक्य का सीधा सादा यह अर्थ हो सकता

है कि वे हैं तो तीन पर एक दूसरे के साथ घनिष्ठता से सबद्ध हैं। कोई भी अर्थ हो, सकेत तीन प्रकार के आनदभोगों या तृप्तियो की तरफ है जो हमारी प्रगतिशील चेतना की तीन गतियो या तीन लोको से सबध रखती है,-शरीर की तृप्तिया, प्राण की तृप्तिया, मन की तृप्तिया। यदि वे तीन युगलो में हैं तो यह समझना चाहिये कि प्रत्येक लोक पर आनद की द्विगुणित क्रिया होती है जो कि अश्विनो के द्विगुणरूप और सम्मिलित युगलरूप के अनुरूप है। स्वयं वेद में ही इस देदीप्यमान तथा आनदमय युगल के बीच में भेद कर सकना तथा यह मालूम कर सकना कि प्रत्येक अलग अलग किसका द्योतक है, बडा कठिन है। ऐसा कोई सकेत हमारे पास नहीं है जैसा कि तीन ऋभुओ के विषय में हमें मिलता है। किंतु शायद इन दो डिओस्कौरोई (Dioskouroi), दिवो नपाता, द्यौ के पुत्रो, के ग्रीक नाम अपने अदर एक सूत्र रखे हुए हैं। कैस्टर (Kastor) जो कि बडे का नाम है 'काशितृ' प्रतीत होता है जिसका अर्थ है चमकीला, पोलुड्यूक्स (Poludeukes)* सभवत 'पुरुदसस्' हो सकता है जो कि वेद में अश्विनों के विशेषण के तौर से आनेवाला एक नाम है, जिसका अर्थ होता है 'विविध क्रियावाले'। यदि यह ठीक है तो अश्विनो की युगलरूप उत्पत्ति शक्ति और प्रकाश, ज्ञान और सकल्प चेतना और बल गौ और अश्व के सतत आनेवाले वैदिक द्वैत की ही स्मारक है। अश्विनो द्वारा हमें प्राप्त करायी गयी सभी तृप्तियो में ये दो तत्त्व इस तरह मिले हुए हैं कि अलग नहीं किये जा सकते, जहा रूप प्रकाश या चेतना का है वहा शक्ति और बल उसमें सम्मिलित हैं, जहा रूप शक्ति या बल का है वहा प्रकाश और चेतना उसमें सम्मिलित हैं।

---

*'Poludeukes' का K अक्षर मूल 'श्' अक्षर का सकेत करता है, उस अवस्था में नाम 'पुरुदमस्' के बजाय 'पुरुदशस्' होना चाहिये था, किंतु कई ऊष्मा अक्षरो के बीच में, आर्यन भाषाओ की आरभिक परिवर्तनशील अवस्था में, परस्पर इस प्रकार के परिवर्तन प्राय हो जाते थे।

किंतु तृप्तियों के ये तीन रूप ही वह सब नहीं है जिसे उनका रथ हमारे लिये धारण किये है; उसके अंदर कुछ और भी है, एक चौथी चीज है, शहद (मधु) से भरी हुई एक खाल है और उस खाल में से वह शहद फूट निकलता है और प्रत्येक तरफ प्रवाहित हो पड़ता है। दृति. तुरीयः मधुनः विरप्शते। मन, प्राण और शरीर ये तीन हैं, हमारी चेतना का तुरीय अर्थात् चौथा स्तर है पराचेतन, सत्य-चेतना। अश्विन एक खाल को, दृति को, शाब्दिक अर्थ ले तो काटी हुई या विदारित की हुई वस्तु को, सत्य-चेतना के अंदर से लायी हुई एक आंशिक रचना को, पराचेतन आनंद के मधु को रखने के लिये अपने साथ लाते हैं; पर यह इसे अपने अंदर नहीं रख सकती; वह अपराजेय रूप से प्रचुर और असीम मधुरता फूटकर निकल पड़ती है और सब जगह प्रवाहित हो पड़ती है और हमारी सारी सत्ता को आनंद से सिंचित करने लगती है। (देखो, मंत्र पहला)

उस मधु द्वारा तृप्तियों के तीन युगल—मानसिक, प्राणिक, शारीरिक—इस सर्वव्यापी, चारों तरफ उमड़कर बहती हुई प्रचुरता से ससिक्त कर दिये जाते हैं और वे इसकी मधुरता से परिपूर्ण, मधुमन्त', हो जाते हैं। और ऐसे होकर एकदम वे ऊपर की तरफ गति करने लग पड़ते हैं। दिव्य आनंद का संस्पर्श पाकर इस निम्न लोक की हमारी सब तृप्तियां पराचेतन की तरफ, सत्य की तरफ, आनद की तरफ आकृष्ट होकर, किसी भी प्रकार अवरुद्ध न होती हुई ऊपर की तरफ चढने लगती हैं। और उनके साथ,—क्योंकि गुप्त रूप से या खुले रूप से, सचेतन रूप से या अवचेतन रूप से यह सत्ता का आनंद ही है जो कि हमारी क्रियाओं का, हलचलों का नेता होता है—इन देवों के सब रथ और घोड़े उसी वेग से, ऊपर को बढ़नेवाली ऊर्ध्वमुखी गति को करने लगते हैं। हमारी सत्ता की सभी विविध गतियां, शक्ति के सभी रूप जो कि उन्हें प्रेरणा देते हैं, सबके सब ऊपर अपने घर की तरफ चढ़ते हुए सत्य के प्रकाश का अनुसरण करने लग जाते हैं। उद् वां पृक्षासः मधुमन्त. ईरते, रथा. अश्वास. उषसः व्युष्टिषु।

"उषा के विपुल प्रकाशो में" वे ऊपर उठते हैं; क्योकि उषा है सत्य का प्रकाश जो कि मनोवृत्ति पर उदित होता है, अधकार में या हमारी सत्ता की अर्ध-प्रकाशित रात्रि में पूर्ण चेतना के दिन को लाने के लिये। वह (उषा) आती है दक्षिणा के रूप में, जो कि विशुद्ध अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक-शक्ति (pure intuitive discernment) है जिससे अग्नि, हमारे अदर की देव शक्ति, परिपुष्ट होती है जब कि वह सत्य को पाने की अभीप्सा करती है, या वह (उषा) आती है सरमा, अन्वेषक अन्तर्ज्ञान-शक्ति (intuition) के रूप में जो कि अवचेतन की गुफा के अदर जा घुसती है जहा कि इन्द्रिय क्रिया के कृपण अधिपतियो (पणियो) ने सूर्य की जगमगाती गौओ को छिपा रखा है और वह इन्द्र को जाकर इसकी सूचना देती है। तब प्रकाशमान मन का अधिपति इन्द्र आता है और गुफा को तोडकर खोल देता है और गौओ को ऊपर हाक देता है, उदाजत्, ऊपर बृहत् सत्य-चेतना, देवो के अपने घर, की तरफ। हमारी सचेतन सत्ता एक पहाडी (अद्रि) है जिसमें उत्तरोत्तर अनेक धरातल और उच्चप्रदेश, सानूनि, है; अवचेतन की गुफा नीचे है, हम ऊपर सत्य और आनद के देवत्व की ओर चढते है जहा कि अमरता के धाम है, यत्र अमृतास आसते।*

अश्विनों के रथ की, ऊपर उठी हुई तथा रूपातर को प्राप्त हुई हुई तृप्तियो के अपने भार सहित, इस ऊर्ध्वमुखी गति द्वारा रात्रि का आवरण जो हमारी सत्ता के लोको को घेरे हुए है परे हटा दिया जाता है। ये सब लोक, मन, प्राण, शरीर, सत्य में सूर्य की किरणो के लिये खुल जाते है। हमारे अदर का यह निम्न लोक, रजस्, इसकी सभी शक्तियो तथा तृप्तियो की ऊर्ध्वारोही गति द्वारा विस्तृत होकर, प्रकाशमान अन्तर्ज्ञानशील मन, स्व, के रूप में परिणत हो जाता है, जो स्व सीधे तौर से उच्च प्रकाश को ग्रहण करनेवाला है। मन, क्रिया, प्राणमय,

*ऋग्० ९. १५ २

आवेशात्मक और मूर्तभूत सत्ता सब दिव्य सूर्य की प्रभा और अन्तर्ज्ञान, शक्ति और प्रकाश,-तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य*-से परिपूर्ण हो जाते हैं। निम्न मानसिक सत्ता उच्च देव की आकृति तथा प्रतिमूर्ति में रूपांतरित हो जाती हैं। अपोर्णुवन्तः तम आ परीवृत, स्व न शुक्र तन्वन्त आ रज। (देखो, मंत्र दूसरा)

यह ऋचा अश्विनो की पूर्ण तथा अंतिम गति का वर्णन समाप्त कर देती है। चौथी ऋचा में ऋषि वामदेव अपने निजी आरोहण, अपनी निजी सोम-हवि, अपनी यात्रा और अपने यज्ञ की तरफ आता है; इसके लिये (तीसरे मंत्र में) वह उनको आनंदप्रद तथा प्रकाशप्रद क्रिया के लिये अपना अधिकार प्रतिपादित कर रहा है। अश्विनो के मुख मधु को पीने के लिये बने हैं; तो उसके यज्ञ में उन्हे उस मधु को पीना चाहिये। मध्व. पिवतं मधुपेभि. आसभि । उन्हें मधु के लिये अपने रथ को नियुक्त करना चाहिये, अपने उस रथ को जो कि मनुष्यों का प्रिय है; उत प्रिय मधुने युञ्जाया रथम्। क्योकि मनुष्य की गति को, उसकी उत्तरोत्तर क्रियाशीलता को, उसके सब मार्गो में वे उसी आनंद के शहद और मधु से, आह्लादमुक्त करते हैं। आ वर्तनिं मधुना जिन्वय पथः। क्योंकि वे उस खाल को धारण किये हैं जो शहद से परिपूर्ण तथा इससे परिस्रवित हो रही है। दृतिं वहेथे मधुमन्तमश्विना। अश्विनो की क्रिया द्वारा मनुष्य की आनंद की तरफ होनेवाली प्रगति ही स्वयमेव आनंदप्रद हो जाती हैं; उसका सारा प्रयत्न और संघर्ष और श्रम एक दिव्य सुख से भरपूर हो जाता है। जैसे वेद में यह कहा गया है कि सत्य द्वारा सत्य की तरफ प्रगति होती है, अर्थात् मानसिक और भौतिक चेतना के अंदर सत्य के नियम की उत्तरोत्तर वृद्धि के द्वारा हम अंत में मन और शरीर से परे पराचेतन सत्य तक पहुंचते है, वैसे ही यहां यह दर्शाया गया है कि आनद के द्वारा आनद की तरफ प्रगति होती है,-हमारे सब अंगो में, हमारी सब क्रियाओं

---

*यह गायत्री (ऋग्० ३.६२.१०) का महत्त्वपूर्ण वाक्य है।

में दिव्य आनंद की उत्तरोत्तर वृद्धि के द्वारा हम पराचेतनात्मक आनंद तक पहुंचते हैं। (देखो, मंत्र तीसरा)

इस ऊर्ध्वमुखी गति में, घोड़े जो कि अश्विनों के रथ को खींचते हैं, पक्षियों, हंसों, हसास, के रूप में बदल जाते हैं। पक्षी वेद में प्रायःकर तो उन्मुक्त तथा ऊपर को उड़ती हुई आत्मा का प्रतीक है, अन्य स्थलों में उन शक्तियों का प्रतीक है जो उसी प्रकार उन्मुक्त होकर ऊपर को गति करती हैं, ऊपर हमारी सत्ता की ऊंचाइयों की तरफ को उड़ती हैं, व्यापक रूप में एक स्वच्छन्द उडान के साथ उड़ती हैं, प्राणशक्ति की, घोडे की, अश्व की सामान्य सीमित गति या यत्नसाध्य प्लुतगति से आबद्ध नहीं रहतीं। ऐसी ही शक्तियां हैं जो इन आनद के अधिपतियो के स्वच्छन्द रथ को खींचती हैं, जब कि सत्य का सूर्य हमारे अंदर उदित हो जाता है। ये पंखोवाली गतियां उस मधु से भरपूर होती हैं जो मधु उमड़कर परिस्रवित होती हुई खाल में से बरसता है, मधुमन्तः। वे आक्रान्त न होने योग्य, अस्रिध, होती हैं, वे अपनी उड़ान में किसी भी क्षति को नहीं पातीं, या इसका यह अर्थ हो सकता है कि वे किसी भी मिथ्या या क्षतिपूर्ण गति को नहीं करतीं। और वे सुनहरे पंखोवाली, हिरण्यपर्णा, होती हैं। सुवर्ण, सुनहरा, सूर्य के प्रकाश का प्रतीकरूप रंग है। इन शक्तियों के पंख उसके प्रकाशमान ज्ञान की परिपूर्ण, तृप्त, प्राप्त कर लेनेवाली गति रूप, पर्ण, होते हैं। क्योंकि ये वे पक्षी हैं जो कि उषा के साथ जागते हैं; ये वे पंखवाली शक्तियां हैं जो कि अपने घोंसलों से निकल पड़ती हैं जब कि उस द्यौ की पुत्री (उषा) के पैर हमारी मानवीय मनोवृत्ति के स्तरों पर, दिवो अस्य मानवि, दबाव डालते हैं। ऐसे हंस हैं जो कि इन तेज अश्वारोही युगलो (अश्विनौ) को वहन करते हैं। हसास. ये वा मधुमन्त· अस्रिध· हिरण्यपर्णा उहूव· उषर्बुध.।

मधु से भरी हुई ये पंखोवाली शक्तियां जब ऊपर उठती हैं तब हमारे ऊपर आकाश के प्रचुर जलो को, उच्च मानसिक चेतना की महान् वृष्टि को, बरसा देती हैं; वे प्रमोद से, आनंद से, अमृत-रस के मद से परि-

प्लुत, भरपूर होती हैं, और वे उस पराचेतन सत्ता को स्पर्श करती हैं, उस पराचेतन सत्ता के साथ सचेतन सस्पर्श में आती हैं, जो सनातनतया आनद की स्वामिनी है, सदा ही इसके दिव्य मद से आनदित है। उद-प्रुन मन्दिन मन्दिनिस्पृग। उन द्वारा खींचे जाकर वे आनद के अधिपति (अश्विनो) ऋषि की सोमहवि पर आते हैं जैसे कि मधुमक्खिया शहद के स्रावो पर; मध्व न मक्ष सवनानि गच्छय। स्वय मधु को बनानेवाले वे मधुमक्षिकाओ की तरह, उस सब मधु का अन्वेषण करते रहते हैं, जो कोई भी मधु उनके और अधिक आनद के लिये उपकरण के तौर पर काम आ सके। (देखो, मत्र चौथा)

यज्ञ में सामान्य प्रकाशीकरण की वही गति जिसे पहले ही अश्विनो की ऊर्ध्वारोही उडान के परिणाम के तौर से वर्णित किया जा चुका है, अब अग्नि की ज्वालाओ की सहायता से की गई वर्णित हुई है। क्योकि सकल्पाग्नि की, आत्मा के अदर जलती हुई दिव्य शक्ति की, ज्वा-लाए भी उमडकर प्रवाहित होती हुई मधुरता से सिंचित हैं और इस-लिये वे दिनप्रतिदिन यज्ञ (अध्वर)* को उत्तरोत्तर अपने लक्ष्य पर ले जाने के अपने महान् कार्य को पूर्णता के साथ करती है। उस उत्तरोत्तर प्रगति के लिये वे अपनी ज्वालामयी जिह्वाओ से, प्रकाशमान अश्विनो के दैनिक मिलाप की याचना करती है, जो अश्वी अन्तर्ज्ञानात्मक ज्योतियो के प्रकाश से प्रकाशमान हैं और विद्योतमान शक्ति के अपने विचार द्वारा† उन ज्वालाओ को धारण करते हैं। स्वध्वरास मधुमन्त अग्नय उस्रा जरन्ते प्रतिवस्तो अश्विना।

---

*'अध्वर' शब्द जो कि यज्ञ के लिये आता है, असल में एक विशेषण है और पूरा मुहावरा है 'अध्वर यज्ञ' अर्थात् यज्ञिय कर्म जो कि मार्ग पर यात्रा करता है, यज्ञ जिसका स्वरूप एक प्रगति या यात्रा का है। अग्नि, सकल्प, यज्ञ का नेता है।

†शवीरया धिया, ऋग्वेद १.३.२।

अग्नि की यह अभीप्सा तब होती है जब कि यज्ञकर्ता ने पवित्र हाथो के साथ, एक पूर्णतया विवेकयुक्त दर्शन (Vision) के साथ, और अपनी आत्मा की उस शक्ति के साथ जो यात्रा की समाप्ति पर्यंत पहुचने के लिये-सब बाधाओ को पार करके सब विरोधो को नष्टभ्रष्ट करके यज्ञ के लक्ष्य तक पहुच जाने के लिये-तत्पर है, सोम-रस निकालने के पत्थरो से अमरताप्रद रस को प्रस्तुत कर लिया होता है, और यह स्वय भी अश्वि-नो के मधु से परिपूर्ण हो चुका होता है। यत् निक्तहस्त तरणि विच-क्षण सोम सुषाव मधुमन्तमद्रिभि । क्योकि वस्तुओं में निहित व्यक्ति का (वैयक्तिक) आनद अश्विनो की त्रिविध तृप्तियो द्वारा और चौथे सत्य से बरसनेवाले आनद के द्वारा ही मिलता है। यज्ञकर्त्ता के परिशुद्ध हाथ निक्तहस्त, सभवत पवित्रीकृत भौतिक सत्ता के प्रतीक है[1], शक्ति आती है पूर्ण किये गये प्राण में से, स्पष्ट मानसिक दर्शन की शक्ति, विचक्षण, सत्य से प्रकाशित मन की सूचक होती है। ये शर्ते है मन, प्राण और शरीर की जिनके कि पूरा होने पर अश्विनों की त्रिविध तृप्तियों में ऊपर मधु उमडकर प्रवाहित होने लगता है। (देखो, मत्र पाचवा)

जब यज्ञकर्ता इस प्रकार अपने यज्ञ में वस्तुओ के मधुपूर्ण आनदो को निचोडकर प्रस्तुत कर चुका है तब सवत्सरागिन की ज्वालाए उन्हे समीप से पान करने योग्य हो जाती है, वे इसके लिय बाध्य नहीं होती कि वे उन्हे थोडा थोडा करके या पीडा के साथ चेतना के दूरस्थ और कठिनता से प्राप्य स्तर से जाकर लावे। इसलिये एकदम और स्वच्छन्दतापूर्वक पान करके वे एक प्रफुल्लित शक्ति व तीव्रता से परिपूर्ण हो जाती हैं और हमारी सत्ता के सपूर्ण क्षेत्र के ऊपर इधर उधर तेजी से गति करने और दौड लगाने लगती है ताकि निम्न चेतना स्वतत्र तथा प्रकाशमान मन के

---

[1] तो भी हस्त या भुजा अधिकतर दूसरे ही प्रकार से प्रतीक होते हैं, विशेषकर तब जब कि विचार का विषय इन्द्र के दो हाथ या दो भुजाए होती है।

जगमगाते लोक की आकृति (प्रतिमा) में प्रसुत तथा रचित हो जाय। *अके-निपास अहभि दविध्वत, स्व न सुत्र तन्वन्त आ रज ।* यह पिछला वाक्यांश बिना किसी परिवर्तन के दूसरी ऋचा में आ चुका है, पर यहा ये चतुर्विध तृप्ति से परिपूर्ण सकल्पाग्नि की ज्वालाए है जो कि कार्य करती है। वहा देवो की स्वच्छन्द ऊर्ध्वगति केवल प्रकाश के सस्पर्श द्वारा और बिना प्रयत्न के हो गयी थी, यहा यज्ञ में मनुष्य का कठोर श्रम और अभीप्सा है। इसलिये यहां समय द्वारा, दिना द्वारा यह होता है कि कार्य पूर्णता को प्राप्त करता है—*अहभि* , दिनो द्वारा, अर्थात् सत्य की क्रम से आनेवाली उन उषाओ द्वारा जिनमेंसे प्रत्येक रात्रि पर अपनी विजय को लिये आती है, उन वह्निो की अविच्छिन्न परपरा द्वारा जिनका दिव्य उषा के सूक्त में हम उल्लेख देख चुके हैं। मनुष्य उस सबको एकदम पकड या धारण नहीं कर सकता जिसे कि प्रकाश उसके समीप लाता है, इसका लगातार दोहराया जाता रहना अपेक्षित है ताकि यह उस प्रकाश में अपनी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त कर सके।

पर केवल सकल्प की अग्निया ही निम्न चेतना को रूपातरित करने के कार्य पर नहीं है। सत्य का सूर्य भी अपने देदीप्यमान घोडो को नियुक्त कर देता है और गतिमान् हो जाता है, *सूर चिद् अश्वान् युयुजान ईयते।* अश्वी भी मानवीय चेतना के लिये इसकी प्रगति के सब मार्गों का ज्ञान प्राप्त करते है, ताकि वह (चेतना) एक पूर्ण, समस्वर और बहुमुखी गति को कर सके। यह गति अनेक मार्गों में आगे की ओर बढ़ती हुई दिव्य ज्ञान के प्रकाश से सयुक्त हो जाती है, प्रकृति की स्वत प्रवृत्त आत्मनियामक क्रिया द्वारा जिसे कि वह (प्रकृति) तब धारण करती है जब कि सकल्प और ज्ञान एक पूर्णत आत्मचेतनायुक्त तथा अन्तर्ज्ञानात्मक तौर से पथ-प्रदर्शित क्रिया की पूर्ण समस्वरता के साथ परस्पर आबद्ध हो जाते हैं। *विश्वान् अनु स्वधया चेतथ पथ ।* (देखो, मत्र छठा)

वामदेव अपने सूक्त को समाप्त करता है। यह देदीप्यमान विचार को उसकी उच्च प्रकाशमयता के सहित, दृढ़ता के साथ ग्रहण कर लेने में

समर्थ हो चुका है और उसने शब्द की आकृति बनानेवाली और स्थिरता देनेवाली शक्ति के द्वारा अपने अदर अश्विनों के रथ को अभिव्यक्त कर लिया है, अर्थात् अश्विनो के आनद की अमृत-गति को; उस आनद की गति को जो कि म्लान नहीं होती या पुरानी नहीं होती या समाप्त नहीं होती,—यह आयुरहित और अक्षय, अजर, होती है,—क्योकि यह खींची जाती है पूर्ण तथा उन्मुक्त शक्तियो द्वारा न कि मानवीय प्राण के सीमित और शीघ्र क्षीण हो जानेवाले, शीघ्र उच्छृखल हो पडनेवाले घोडो द्वारा। प्र वाम् अवोचम् अश्विना धियन्धा, रथ स्वश्व अजर य अस्ति। इस गति में वे एक क्षण के अदर निम्न चेतना के सब लोको के आर-पार हो जाते है और इसे अपने तीव्र आनदो से ढक देते है और इस प्रकार उस मनुष्य के अदर जो कि अपनी सोमरस की हवि से परिपूर्ण होता है ऐसे विश्वव्यापी आनद को प्राप्त कर लेते है जिसे पाकर वे प्रबलता के साथ उसके अदर प्रविष्ट होकर, मनुष्य को सब विरोधियों से पार कराके महान् लक्ष्य तक ले जाते है। येन सद्य परि रजासि याथ हविष्मन्त तरणि भोजमच्छ। (देखो, मत्र सातवा)

ग्यारहवा अध्याय

# ऋभु—अमरता के शिल्पी

ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त २०

अय देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया।
अकारि रत्नधातम ॥१॥

(अयम्) यह देखो (देवाय जन्मने) दिव्य जन्म के लिये (विप्रेभि) प्रकाशमान मनवालो द्वारा (आसया) मुख के प्राण से (स्तोम अकारि) [ऋभुओ की] स्तुति की गयी है, (रत्नधातम) जो कि पूणतया सुख को देनेवाली है ॥१॥

य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी।
शमीभिर्यज्ञमाशत ॥२॥

(ये) जिन्होने (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (मनसा) मन द्वारा (वचोयुजा हरी ततक्षु) वाणी से नियोक्तव्य उसके दो चमकदार घोडो को निर्मित किया, रचा, और वे (शमीभि) अपनी कार्य की निष्पत्तियों के द्वारा (यज्ञम् आशत) यज्ञ का उपभोग करते है ॥२॥

तक्षन् नासत्याभ्या परिज्मान सुख रथम्।
तक्षन् धेनु सबर्दुघाम् ॥३॥

उन्होने (नासत्याभ्याम्) समुद्रयात्रा के युगल देवो [अश्विनो] के लिये (परिज्मान) सर्वव्यापी गतिवाले (सुख रथम्) उनके सुखमय रथ को (तक्षन्) रचा, उन्होने (सबर्दुघा धेनु तक्षन्) मधुर दूध देनेवाली प्रीणयित्री गौ को रचा ॥३॥

युवाना पितरा पुन सत्यमन्त्रा ऋजूयव।
ऋभवो विष्टयक्रत ॥४॥

(ऋभव) हे ऋभुओ! (विष्टि) अपनी अभिव्याप्ति में, तुमने (पितरा) पिता माताओ को (पुन युवाना अक्रत) फिर से जवान कर दिया,

जो तुम (ऋजूयव) सरल मार्ग को चाहनेवाले हो, (सत्यमन्त्रा) अपने मनोमयीकरणो में सत्य से युक्त हो ॥४॥

स वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरुत्वता।
आदित्येभिश्च राजभि ॥५॥

(मदास) सोम रस के आनद (च समग्मत) तुम्हें पूर्णतया प्राप्त होते हैं, (मरुत्वता इन्द्रेण च) मरुतों के सहचर इन्द्र के साथ, (राजभि आदित्येभि च) और राजा भूत अदिति के पुत्रो के साथ ॥५॥

उत त्य चमस नव त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्।
अकर्त चतुर पुन ॥६॥

(उत) और (त्वष्टु त्य नव निष्कृत चमसम्) त्वष्टा के इस नवीन तथा पूर्ण किये हुए प्याले के, तुमने (पुन चतुर अकर्त) फिर चार [प्याले] कर दिये ॥६॥

ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते।
एकमेक सुशस्तिभि ॥७॥

(ते) वे तुम (न) हमारे लिये (सुन्वते) सोमहवि देनेवाले के लिये (त्रि साप्तानि रत्नानि) त्रिगुणित सप्त आनदो को (आ धत्तन) धृत कर दो, (एकमेकम्) प्रत्येक को पृथक् पृथक् (सुशस्तिभि) उनकी पूर्ण अभिव्यक्तियो के द्वारा ॥७॥

अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया।
भाग देवेषु यज्ञियम् ॥८॥

(वह्नय अधारयन्त) उन वहन करनेवाले [ऋभुओ] ने [उन रत्नो को] धारण किया और स्थित कर दिया, उन्होने (सुकृत्यया) अपने कर्मों की पूर्णता द्वारा (यज्ञिय भागम) यज्ञिय भाग को (देवेषु अभजन्त) देवो में विभाजित कर दिया ॥८॥

भाष्य

ऋभुओ के विषय में ऐसा सकेत किया गया है कि वे सूर्य की किरणें हैं। और यह सच भी है कि वरुण, मित्र, भग और अर्यमा

की तरह वे सौर प्रकाश की, सत्य की, शक्तियां हैं। परंतु वेद में उनका विशेष स्वरूप यह है कि वे अमरता के शिल्पी हैं। वे उन मानव पुरुषों के रूप में चित्रित किये गये हैं जिन्होंने ज्ञान की शक्ति द्वारा तथा अपने कर्मों की पूर्णता द्वारा देवत्व की अवस्था को प्राप्त कर लिया है। उनका कार्य यह है कि वे दिव्य प्रकाश तथा आनंद की उसी अवस्था की ओर जिसे कि उन्होंने अपने दिव्य विशेषाधिकार के तौर पर स्वयं अर्जित किया है, मनुष्य को उठा ले जाने में इन्द्र की सहायता करें। उन्हें संबोधित किये गये सूक्त वेद में थोड़े ही हैं और प्रथम दृष्टि में वे अत्यधिक गूढार्थवाले प्रतीत होते हैं; क्योंकि वे कुछ रूपकों तथा प्रतीकों से भरे हुए हैं जो कि बार बार दोहराये गये हैं। किंतु एक बार जब कि वेद के मुख्य मुख्य सूत्र विदित हो जायं तो वे उलटे अत्यधिक स्पष्ट और सरल हो जाते हैं और एक सगतियुक्त तथा मनोरंजक विचार को उपस्थित करते हैं जो कि अमरता के वैदिक सिद्धांत पर एक स्पष्ट प्रकाश डालता है।

ऋभु प्रकाश की शक्तियां हैं जो कि भौतिकता के अंदर अवतीर्ण हुई हैं और वहां उन मानवशक्तियों के रूप में जनित हो गयी हैं जो देव तथा अमर बन जाने की अभीप्सा में लगी हैं। अपने इस स्वरूप में वे 'सुधन्वन्'* के पुत्र (सौधन्वना) कहाते हैं,–यह एक पैतृक नाम है जो केवल इसका आलंकारिक निदर्शन है कि वे भौतिकता की परिपूर्ण शक्तियों से पैदा होते हैं जब कि वे शक्तियां प्रकाशित शक्ति से संस्पृष्ट होती हैं। परंतु उनका असली स्वरूप यह है कि वे इस प्रकाशित शक्ति के अंदर से अवतीर्ण हुए हैं और कहीं कहीं उन्हें इस रूप में संबोधित भी किया गया

---

*'धन्वन्' का यहां पर धनुष अर्थ नहीं है, किंतु भौतिकता का वह पिण्ड या मरुस्थल है जिसे कि दूसरे रूप में उस पहाडी या चट्टान के रूप से प्रतिरूपित किया गया है जिसमेंसे जल और किरणों को छुड़ाकर लाया जाता है।

हैं, "इन्द्र की सतानो! प्रकाशित शक्ति के पौत्रो!" क्योंकि इन्द्र अर्थात् मनुष्य में रहनेवाला दिव्य मन, प्रकाशित शक्ति के अदर से पैदा हुआ है, जैसे अग्नि विशुद्ध शक्ति के अदर से, और इस दिव्य मन रूपी इन्द्र से पैदा होती है अमरता की इच्छुक मानवीय अभीप्साएं।

तीन ऋभुओ के नाम, उनकी उत्पत्ति के क्रम के अनुसार ये है, पहला ऋभु या ऋभुक्षन् अर्थात् कुशल ज्ञानी या ज्ञान को गढनेवाला, दूसरा विभ्वा या विभु अर्थात् व्यापी, आत्मप्रसारक, तीसरा वाज अर्थात् प्रचुरत्व। उनके अलग अलग नाम उनके विशेष स्वरूप और कर्म को दर्शाते है, किंतु वस्तुत वे मिलकर एक त्रैत है, और इसलिये वे 'विभव' या 'वाजा' भी कहलाते ह, यद्यपि प्राय उन्हें 'ऋभव', ऋभु नाम ही दिया गया है। सबसे बडा, ऋभु मनुष्य के अदर प्रथम है जो कि अपने विचारो तथा कर्मों के द्वारा अमरता के रूपो की आकृति बनाना शुरू करता है, विभ्वा इस रचना को व्याप्ति प्रदान करता है, सबसे छोटा, वाज, दिव्य प्रकाश और उपादान-तत्त्व की प्रचुरता को देता है जिसके द्वारा पूर्ण कार्य सिद्ध हो सकता है। अमरता के इन कर्मों और निर्माणो को वे, बार बार दोहराया गया है कि, विचार की शक्ति द्वारा, क्षेत्र और सामग्री के रूप में मन को लेकर, करते है, वे किये जाते है शक्ति से, वे परिसेवित होते है रचनात्मक तथा फलोत्पादक क्रिया में परिपूर्णता ले आने के द्वारा, स्वपस्यया, सुकृत्यया, जो कि अमरता के गढे जाने की शर्त है। इन अमरता के शिल्पियो की ये रचनाए, जैसे कि उपस्थित सूक्त में सक्षेप से सगृहीत कर दी गयी है, ये है,–१. इन्द्र के घोडे, २ अश्विनो के रथ, ३ मधुर दूध देनेवाली गाय, ४ विश्व-व्यापी पिता-माताओ की जवानी, ५ देवो के उस एक पीने के प्याले को चार-गुणित कर देना जिसे कि आरभ में त्वष्टा पदार्थों के रचयिता, ने रचा था।

सूक्त अपने उद्दिष्ट विषय के सकेत से आरभ होता है। यह ऋभु-शक्तियो की स्तुति है जो कि दिव्य जन्म के लिये की गयी है, उन मनुष्यो द्वारा की गयी ह जिनके मनों ने प्रकाशमयता को पा लिया है और जिनके

मनो के अदर प्रकाश की यह शक्ति है जिसमेंसे ऋभु पैदा हुए थे। की गयी है यह मुख के प्राण द्वारा, विश्व में विद्यमान जीवन-शक्ति के द्वारा। इसका उद्देश्य है मानवीय आत्मा के अदर परमानद के समस्त सुखो को, दिव्य जीवन के जो त्रिगुणित सात आनद है उनको, दृढ करा देना। (देखो, मत्र पहला)

यह दिव्य जन्म निर्दर्शित किया गया है ऋभुओ द्वारा, जो कि पहले मानव होकर, अब अमर हो गये है। इस दिव्य जन्म के ऋभु निदर्शन है, दृष्टात है। कार्य को—मानव के ऊर्ध्वमुख विकास के उस महान् कार्य को जो कि विश्व-यज्ञ की पराकोटि है,—अपनी निष्पत्तियों, कार्यपूर्त्तियो, निर्मितियों द्वारा उन्होंने उस यज्ञ में—विश्व-यज्ञ में—दिव्य शक्तियों (देवताओ) के साथ अपने दिव्य भाग को और स्वत्व को प्राप्त किया है। वे निर्माण की और ऊर्ध्वमुखी प्रगति की उन्नतिप्राप्त मानवीय शक्तिया है जो मनुष्य के दिव्यीकरण में देवो की सहायता करती है। और उनकी सब निष्पत्तियो में, सब निर्माणो में से जो केंद्रभूत है वह है इन्द्र के दो जगमगाते घोडो का निर्माण, उन घोडो का जो कि वाणी द्वारा अपनी गतियो में नियुक्त किये जाते है, जो शब्द द्वारा नियुक्त होते है और रचे जाते है मन से। क्योंकि प्रकाशित मन की, मनुष्य के अदर विद्यमान दिव्य मन की, उन्मुक्त गति ही अन्य सभी अमरताप्रद कार्यों की शर्त है। (देखो, मत्र दूसरा)

ऋभुओ का दूसरा कार्य है अश्विनो, मानवीय यात्रा के अधिपतियो, के रथ को निर्मित करना,—अभिप्राय है, मनुष्य के अदर आनद की उस सुखमय गति को रचित करना जो कि अपनी क्रिया द्वारा उसके अदर के सत्ता के सब लोको या स्तरो को व्याप्त कर लेती है, भौतिक पुरुष को स्वास्थ्य, यौवन, बल, सपूर्णता, प्राणमय पुरुष को सुखभोग की तथा क्रिया की क्षमता, मनोमय पुरुष को प्रकाश की आनदमयी शक्ति प्रदान करती है,—सक्षेप में कहना चाहे तो, जो उसके सब अगो के अदर सत्ता के विशुद्ध आनद के सामर्थ्य को ला देती है। (देखो, तीसरे मत्र का पूर्वार्द्ध)

ऋभुओ का तीसरा कार्य है उस गौ की रचना जो कि मधुर दूध देती है। दूसरे स्थान पर यह कहा गया है कि यह गौ आच्छादक त्वचा के अदर से–प्रकृति की बहिर्मुख गति तथा क्रिया के पर्दे के अदर से–ऋभुओ द्वारा छुडाकर लायी गयी है, निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभि । यह प्रीणयित्री गौ (धेनु) स्वय वह है जो कि गति के विश्वव्यापी रूपों की और विश्वव्यापी वेग की गौ है, विश्वजुवम् विश्वरूपाम दूसरे शब्दो में यह है आदि-रश्मि, अदिति असीमित सचेतन सत्ता की असीमित चेतना जो कि लोको की माता है। वह चेतना ऋभुओ द्वारा प्रकृति की आवरण डालनेवाली गति के अदर से निकालकर लायी गयी है और उसकी एक आकृति को उन्होने यहा हमारे अदर रच दिया है। वह द्वैत शक्तियो की क्रिया के द्वारा, अपनी सतान से, निम्नलोकवर्ती आत्मा से, जुदा कर दी गयी है, ऋभु उसे फिर से अपनी असीम माता के साथ सतत साहचर्य प्राप्त करा देते हैं। (देखो, तीसरे मत्र का उत्तरार्द्ध)*

ऋभुओ का एक और महान् कार्य है अपने पूर्वकृत कार्यों–इन्द्र के प्रकाश, अश्विनो की गति, प्रीणयित्री गौ के परिपूर्ण दोहन–से शक्ति पाकर विश्व के वृद्ध पिता माताओ, द्यौ तथा पृथिवी को पुन जवानी प्राप्त करा देना। द्यौ है मनोमय चेतना, पृथिवी है भौतिक चेतना। ये दोनो मिलकर इस रूप में प्रदर्शित किये गये हैं कि ये चिर-वृद्ध है और नीचे गिर पड़े हुए यज्ञ स्तभो की तरह लबे भूमि पर, जीर्ण शीर्ण और कष्ट भोगते हुए पड़े है, सना यूपेव जरणा शयाना। ऋभु, कहा गया है कि, आरोहण करके सूय के घर तक पहुचते है जहा कि वह अपने सत्य की अनावृत दीप्ति के साथ निवास करता है, और वहा वे बारह दिन निद्रा लेकर, उसके बाद द्यौ तथा पृथिवी को सत्य की प्रचुर वृष्टि से भरपूर करके, उन्हें पालित-पोषित करके, फिर से जवानी तथा शक्ति प्रदान कर, इन्हें पार कर जाते है†। वे द्यौ को अपने कार्यों से व्याप्त कर लेते है,

---

*अन्य ब्योरेरा के लिये देखो, ऋग्० ४ ३३ ४ व ८, ४ ३६ ४ आदि।

†देखो, ऋग्वेद ४ ३३ २,३,७, ४ ३६ १,३, १ १६१ ७।

वे मनोवृत्ति को दिव्य उन्नति प्राप्त करा देते हैं‡; वे इसे और भौतिक सत्ता को एक नवीन तथा यौवनपूर्ण और अमर गति प्रदान कर देते हैं। क्योंकि सत्य के घर में से वे अपने साथ उसे पूर्ण करके ले आते हैं जो कि उनके कार्य की शर्त है, अर्थात् सत्य के सरल मार्ग में होनेवाली गति को और मनोवृत्ति के सब विचारो में तथा शब्दो में अपनी पूर्ण प्रभावोत्पादकता सहित स्वय सत्य को। इस शक्ति को निम्न लोक के अदर अपने व्यापी प्रवेश में साथ ले जाकर, ये उसके अदर अमृत-तत्त्व को उडेल देते है। (देखो, मत्र चौथा)

जिसे वे अपने कार्यों द्वारा अधिगत करते हैं और मनुष्य को उसके यज्ञ में प्राप्त कराते हैं वह इसी अमृत-तत्त्व का रस और इसके आनद हैं। और इस सोमपान में उनके साथ जो आकर बैठते है वे है, एक तो इन्द्र तथा मरुत् अर्थात् दिव्य मन तथा इसकी विचार-शक्तिया, और दूसरे चार महान् राजा, अदिति के पुत्र, असीमता की सतान,—जो हैं वरुण, मित्र, अर्यमा, भग,—क्रमश. सत्य-चेतना की पवित्रता और बृहत्ता, इसका प्रेम तथा प्रकाश और समस्वरता का नियम, इसकी शक्ति और अभीप्सा, इसका वस्तुओ का पवित्र तथा सुखमय भोग। (देखो, मत्र पाचवा)

और वहा यज्ञ में ये देव चतुर्गुणित प्याले, चमस चतुर्वयम्, में अमृत के प्रवाहो का पान करते हैं। क्योंकि त्वष्टा, पदार्थो के रचयिता, ने आरभ में मनुष्य को केवल एक ही प्याला, भौतिक चेतना, भौतिक शरीर, दिया है, जिसमें भरकर सत्ता का आनद देवो को अर्पित किया जाय। ऋभु, प्रकाशमय ज्ञान की शक्तिया, इस त्वष्टा की बाद की क्रियाओं से पुनर्नवीकृत तथा पूर्णीकृत इस प्याले को लेते हैं और मनुष्य के अदर चार लोकों की सामग्री से तीन अन्य शरीर (प्याले), प्राणमय, मनोमय और कारणभूत या विचारशरीर, निर्मित कर देते है। (देखो, मत्र छठा)

क्योंकि उन्होने इस आनद के चतुर्गुणित प्याले को रचा है और इसके द्वारा मनुष्य को सत्य-चेतना के लोक में निवास करने योग्य कर दिया है,

---

‡देखो, ऋग्वेद ४. ३३. १-२।

इसलिये अब वे इस योग्य हैं कि इस पूर्णभूत मानव-सत्ता के अदर मन, प्राण और शरीर में उडेले गये उच्च सत्ता के त्रिगुणित सात आनदो को प्रतिष्ठित कर सके। इनमेंसे प्रत्येक को वे सबके समुदाय में भी, प्रत्येक के पृथक् पृथक् परम-आनद की पूर्ण अभिव्यक्ति के द्वारा पूरे तौर से प्रदान कर सकते हैं। (देखो, मन्त्र सातवा)

ऋभुओ के अदर शक्ति है कि वे सत्ता के आनद की इन सब धाराओं को मानवीय चेतना के अदर धारण तथा स्थिर कर सके, और वे इस योग्य हैं कि वे अपने कार्य की परिपूर्ति करते हुए, इसे अभिव्यक्त हुए देवो के बीच में, प्रत्येक देव को उसका यज्ञिय भाग देते हुए, विभाजित कर सके। क्योंकि इस प्रकार का पूर्ण विभाजन ही फलसाधक यज्ञ, पूर्णतायुक्त कार्य, की समस्त शर्त है। (देखो, मत्र आठवा)

इस प्रकार के ये ऋभु हैं और वे मानवीय यज्ञ में बुलाये गये हैं इसलिये कि वे मनुष्य के लिये अमरता की वस्तुओ को रचे, जैसे कि उन्होंने उन्हें अपने लिये रचा था। "वह प्रचुर ऐश्वर्यों से परिपूर्ण (वाजी) और श्रम के लिये आवश्यक बल से परिपूर्ण (अर्वा) हो जाता है, वह आत्माभिव्यक्ति की शक्ति से ऋषि बन जाता है, वह युद्धो में शूरवीर और विद्ध कर डालने के लिये जबर्दस्त प्रहार करनेवाला हो जाता है, वह अपने अदर आनद की वृद्धि को तथा पूर्ण बल को धारण कर लेता है, जिसे कि ऋभुगण, वाज और विभ्वा, पालित करते हैं।* .. क्योंकि तुम द्रष्टा हो और स्पष्ट विवेकयुक्त विचारक हो, इस प्रकार के तुमको अपनी आत्मा के इस विचार के साथ (ब्रह्मणा) हम अपने ज्ञानो को निवेदित करते हैं†। तुम ज्ञानयुक्त होकर, हमारे विचारों के चारों

---

*स वाज्यर्वा स ऋषिर्वचस्यया स शूरो अस्ता पृतनासु दुष्टरः।
स रायस्पोषं स सुवीर्यं दधे य वाजो विभ्वाँ ऋभवो यमाविषु ॥

†(श्रेष्ठं व पेशो अधि धायि दर्शतं स्तोमो वाजा ऋभवस्तं जुजुष्टन।)
धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान् व एना ब्रह्मणा वेदयामसि॥

ओर गति करते हुए हमारे लिये सब मानवीय सुखभोगों को-दीप्तिमान् ऐश्वर्यों को (द्युमन्तं वाजम्) और फलवर्षक शक्ति को (वृषशुष्मम्) और उत्कृष्ट आनंद को (रयिम्)-रच दो‡। यहां प्रजा को, यहां आनंद को, यहां अन्तःप्रेरणा की महती शक्ति को (वीरवत् श्रव) हमारे अंदर रच दो, अपने आनंद में भरपूर होकर। हमें, हे ऋभुओ, उस अत्यधिक विविध ऐश्वर्य को प्रदान कर दो, जिससे कि हम सामान्य मनुष्यों को अतिक्रान्त कर वस्तुओं के प्रति जागृत चेतनावाले हो जायं§।"

‡यूयमस्मभ्यं धिषणाभ्यस्परि विद्वांसो विश्वा नर्याणि भोजना।
द्युमन्तं वाजं वृषशुष्ममुत्तममा नो रयिमृभवस्तक्षता वयः ॥
§इह प्रजामिह रयिं रराणा इह श्रवो वीरवत् तक्षता नः।
येन वयं चितयेमात्यन्यान् तं वाजं चित्रमृभवो ददा नः॥
ऋग्० ४. ३६. ८-९

बारहवा अध्याय

# विष्णु, विश्वव्यापी देव

### ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १५४

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१॥

(विष्णोः नु कं वीर्याणि प्रवोचम्) विष्णु के वीरतापूर्ण कर्मों का इस समय में वर्णन करता हू (यः) जिस विष्णु ने (पार्थिवानि रजांसि) पार्थिव लोकों को (विममे) माप लिया हैं, और (यः) जो (उत्तरं सधस्थं) हमारी आत्म-साधना के उच्चतर धाम को (अस्कभायत्) थामे हुए है, (उरुगायः) विशाल गतिवाला (त्रेधा विचक्रमाणः) अपनी विश्व-व्यापी गति के तीन चरणों को रखता हुआ ॥१॥

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२॥

(तद्) उसको (विष्णुः) विष्णु (वीर्येण) अपनी शक्ति के द्वारा (प्र-स्तवते) उच्च स्थान पर स्थापित कर देता है, और वह (भीमः कुचरः मृगः न) एक भयानक शेर के समान् है जो कि दुर्गम स्थानों में विचरता है, (गिरिष्ठाः) उसकी गुफा पहाड़ की चोटियों पर हैं, (यस्य) जिसकी (उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु) तीन विशाल गतियों में (विश्वा भुवनानि अधि-क्षियन्ति) सब लोक निवास पा लेते हैं ॥२॥

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम् एको विममे त्रिभिरित् पदेभिः ॥३॥

(विष्णवे) सर्वव्यापी विष्णु के प्रति (शूषम्) हमारी शक्ति और (मन्म) हमारा विचार (प्र एतु) आगे जाएं (उरुगायाय वृष्णे गिरि-क्षिते) जो विष्णु वह विशाल गतिवाला बैल है जिसका निवासस्थान पर्वत

पर है, (यः एकः) जिस अकेले ने (इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम्) हमारी आत्म-साधना के इस लंबे और अत्यधिक विस्तृत धाम को (त्रिभिः इत् पदेभिः) केवल तीन ही चरणों में (विममे) माप लिया है ॥३॥

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥४॥

(यस्य) जिस विष्णु के (त्री पदानि) तीन चरण (मधुना पूर्णा) मधुरस से परिपूर्ण हैं और वे (अक्षीयमाणा) क्षीण नहीं होते, किंतु (स्वधया मदन्ति) अपने स्वभाव की आत्मसमस्वरता द्वारा आनद उपलब्ध करते हैं; (यः उ) जो अर्थात् वह विष्णु (एकः) अकेला ही (त्रिधातु) त्रिविध तत्त्व को और (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी तथा द्यौ को भी (विश्वा भुवनानि) सभी लोकों को (दाधार) धारण किये है ॥४॥

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्स. ॥५॥

मैं चाहता हूं कि (अस्य पाथः तत् प्रियम्) उसकी गति के उस लक्ष्य को, आनद को, (अभि-अश्याम्) मैं प्राप्त कर सकूं और उसमें रस ले सकू (यत्र) जिसमें (देवयवः नरः) वे आत्माए जो कि देवत्व की इच्छुक होती हैं (मदन्ति) आनंद लेती हैं; (हि) क्योंकि (उरुक्रमस्य विष्णोः) विशाल गतिवाले विष्णु के (परमे पदे) सबसे ऊपर के चरण में (सः इत्था बन्धुः) वह मनुष्यों का मित्र रहता है जो कि (मध्वः उत्सः) मधुरता का स्रोत है ॥५॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥६॥

(ता वां वास्तूनि) वे तुम दोनों के निवास-स्थान हैं जिनको (गमध्यै उश्मसि) हम अपनी यात्रा के लक्ष्य के रूप में पहुचने की चाहना करते हैं (यत्र) जहां कि (भूरिशृङ्गा गावः) अनेक सींगोवाली प्रकाश की गौएं (अयासः) यात्रा करके पहुचती हैं; (अत्र ह) यहीं (उरुगायस्य वृष्णः) विशाल गतिवाले वृष्ण विष्णु का (परमं पदम्) सर्वोच्च चरण

(भूरि) अपनी बहुविध विशालता के साथ (अव-भाति) आकर हमपर चमकता है ॥६॥

भाष्य

इस सूक्त का देवता विष्णु है, जो कि ऋग्वेद में एक दूसरे देव रुद्र, जिसने कि बाद के धर्म-सम्प्रदाय में एक बहुत ऊंचा स्थान पा लिया है, के साथ घनिष्ठ किंतु प्रच्छन्न संबंध को और लगभग तद्रूपता को ही रखता है। रुद्र एक भयंकर और प्रचंड देव है जिसका एक हितकारी रूप भी है जो कि विष्णु की उच्च आनंदपूर्ण वस्तुसत्ता के निकट पहुंचता है; मनुष्य के साथ तथा मनुष्य के सहायक देवों के साथ जो विष्णु की सतत मित्रता का वर्णन आता है उसपर एक बड़ी जबर्दस्त प्रचंडता का रूप भी छाया हुआ है,—विष्णु के विषय में कहा गया है "कुत्सित तथा दुर्गम स्थानों में विचरनेवाले एक भयानक शेर के रूप में"—यह ऐसा वर्णन है जो अपेक्षाकृत अधिक सामान्य तौर से रुद्र के लिये उचित है। रुद्र प्रचंडतापूर्वक युद्ध करनेवाले मरुतों का पिता है; विष्णु भी पंचम मंडल के अंतिम सूक्त में 'एवया-मरुत्' के नाम से स्तुति किया गया है जिसका अभिप्राय है कि विष्णु वह स्रोत है जिसमें से मरुत् निकले हैं, वह जो कि ये हो जाते हैं और स्वयं भी वह उनकी संघबद्ध शक्तियों की एकता तथा समग्रता के साथ तद्रूप है। रुद्र वह देव है जो कि विश्व में आरोहण-क्रिया करता है, विष्णु भी वही देव है जो आरोहण की शक्तियों की सहायता करता और उन्हें प्रोत्साहन देता है।

एक दृष्टिकोण यह था जो कि बहुत काल तक युरोपियन विद्वानों द्वारा प्रचारित किया जाता रहा कि पौराणिक देववंशावलियों में विष्णु तथा शिव की महत्ता एक बाद में हुआ विकास है और वेद में ये देव एक बिल्कुल क्षुद्र सी स्थिति रखते हैं तथा इन्द्र और अग्नि की अपेक्षा तुच्छ हैं। अनेक विद्वानों का यह एक प्रचलित मत तक बन गया है कि 'शिव' एक बाद का विचार था जो द्रवीडियों से लिया गया और यह इस बात को प्रकट करता है कि वैदिक धर्म पर देशीय संस्कृति ने जिसपर

कि इसने आक्रमण किया था आंशिक विजय प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार की भूलों का उठना अनिवार्य ही है, क्योंकि वैदिक विचार को पूर्णत गलत रूप में समझा गया है। इस गलत समझे जाने के लिये प्राचीन ब्राह्मण-ग्रंथीय कर्मकाण्ड जिम्मेवार है और इसे युरोपियन विद्वत्ता ने वैदिक गाथाविज्ञान में के गौण तथा बाह्य अग पर अतिशय वल देकर केवल एक नया तथा और भी अधिक भ्रांतिपूर्ण रूप ही प्रदान किया है।

वैदिक देवो की महत्ता उन देवों के लिये सूक्तो की सख्या कितनी है इस बात से या ऋषियो के विचारो में उनका आवाहन किस हद तक किया गया है इस बात से नहीं मापी जानी चाहिये, किंतु इससे मापी जानी चाहिये कि उनका व्यापार क्या है जो वे करते है। अग्नि और इन्द्र जिनके प्रति अधिकाश वैदिक सूक्त सबोधित किये गये है विष्णु तथा रुद्र की अपेक्षा अधिक बडे नहीं है, किंतु वे व्यापार जिन्हें वे आन्तरिक तथा बाह्य जगत् में करते है सबसे अधिक क्रियाकर, प्रधान तथा प्राचीन रहस्यवादियो के आध्यात्मिक अनुशासन के लिये प्रत्यक्ष तौर से फलोत्पादक है, केवल यही उनकी प्रधानता का कारण है। मरुत जो कि रुद्र के पुत्र है, अपने भयावह तथा शक्तिशाली पिता की अपेक्षा अधिक ऊचे देव नहीं है, किंतु उन्हें सबोधित किये गये सूक्त अनेको है तथा अन्य देवो के साथ जुडकर तो वे और भी अधिक सातत्य के साथ वर्णित हुए है, क्योंकि वह व्यापार जिसे वे पूर्ण करते है वैदिक अनुशासन में एक सतत तथा तात्कालिक महत्ता का है। दूसरी तरफ विष्णु, रुद्र, ब्रह्मणस्पति जो कि बाद के पौराणिक त्रैत विष्णु-शिव-ब्रह्मा के वैदिक मूल है वैदिक कर्म की आवश्यक अवस्थाओ का विधान करनेवाले है और अपेक्षाकृत अधिक उपस्थित रहनेवाले तथा अधिक क्रियाशील देवो के द्वारा, स्वय पीछे रहकर, उस कर्म में सहायता देते है, वे अपेक्षाकृत इसके कम समीप रहते है और देखने में ऐसा ही प्रतीत होता है कि वे इसकी दैनिक गतियो में कम नैरन्तर्य के साथ वास्ता रखते है।

ब्रह्मणस्पति शब्द द्वारा रचना करनेवाला है; वह निश्चेतना के समुद्र के अंधकार में से प्रकाश को तथा दृश्य विश्व को पुकार लाता है और सचेतन सत्ता के व्यापारो को ऊपर की तरफ उनके उच्च लक्ष्य की ओर गति दे देता है। ब्रह्मणस्पति का यह रचनाशील रूप ही है जिससे ब्रह्मा (जो कि सृष्टि का रचयिता है) का पश्चात्कालीन विचार उठा है।

ब्रह्मणस्पति की रचनाओ की ऊर्ध्वमुखी गति के लिये शक्ति देता है रुद्र। वेद में उसे 'द्यौ का शक्तिशाली देव' यह नाम दिया गया है, परंतु वह अपना कार्य आरभ करता है पृथ्वी पर और हमारे आरोहण के पांचो स्तरो पर यज्ञ को क्रियान्वित करता है। वह वह उग्र देव है जो कि सचेतन सत्ता की ऊर्ध्वमुखी उन्नति का नेतृत्व करता है; उसकी शक्ति सब बुराइयो से युद्ध करती है, पापी को और शत्रु को आहत कर देती है; न्यूनता तथा स्खलन के प्रति असहिष्णु वही है जो देवो में सबसे अधिक भयानक है, केवल उसी से वैदिक ऋषि कोई वास्तविक भय मानते है। अग्नि, कुमार, जो कि पौराणिक 'स्कन्द' का मूल है, पृथ्वी पर इसी रुद्र-शक्ति का पुत्र है। मरुत्, वे प्राणशक्तियां, जो कि बलप्रयोग द्वारा अपने लिये प्रकाश को रचती है, रुद्र के ही पुत्र है। अग्नि और मरुत उस भयकर संघर्ष के नेता है जो कि रुद्र की प्रथम पार्थिव धुंधली रचना से शुरू होकर ऊपर विचार के द्युलोको, प्रकाशमान लोको, तक होता रहता है। किंतु यह प्रचण्ड और शक्तिशाली रुद्र जो कि बाह्य तथा आन्तरिक जीवन की सब त्रुटिपूर्ण रचनाओ को तथा समुदायों को तोड गिराता है साथ ही एक दयालु रूप को भी रखता है। वह परम भिषक्, भैषज्यकर्त्ता है। विरोध किये जाने पर यह विनाश करता है; सहायता के लिये पुकारे जाने पर तथा प्रसादित किये जाने पर यह सब घावों को तथा सब पापों को और कष्टो को निवारण कर देता है। शक्ति जो कि युद्ध करती है उसी की देन है, पर साथ ही चरम शांति और आह्लाद भी उसकी देनें है। वैदिक रुद्र के इन रूपों में उस पौराणिक शिव-रुद्र के विकास के लिये आवश्यक सब आदिम सामग्रियां विद्यमान है जो कि

पौराणिक शिव-रुद्र विनाशक तथा चिकित्सक है, मंगलकारी तथा भयानक है, लोकों के अंदर क्रिया करनेवाली शक्ति का अधिपति तथा परम स्वाधीनता और शांति का आनंद लेनेवाला योगी है।

ब्रह्मणस्पति के शब्द की रचनाओं के लिये, रुद्र की शक्ति की क्रियाओं के लिये, विष्णु आवश्यक स्थिति-शील तत्त्वों को प्रदान करता है–अर्थात् स्थान को, लोकों की व्यवस्थित गतियों को, आरोहण के धरातलों को, सर्वोपरिभूत लक्ष्य को प्रदान करता है। उसने तीन चरण रखे हैं और उस स्थान में जो कि तीन चरणों के द्वारा बन गया है उसने सब लोकों को स्थापित कर दिया है। इन लोकों में वह सर्वव्यापी देव निवास करता है और देवताओं की क्रिया को तथा गतियों को कम या अधिक यथायोग्य स्थान प्रदान करता है। जब इन्द्र को वृत्र का वध करना होता है तब वह सर्वप्रथम विष्णु की ही स्तुति करता है, जो विष्णु कि इस महासंग्राम में उसका मित्र और साथी है*, कि "ओ विष्णु! तू अपनी गति की पूर्ण विशालता के साथ पग उठा"†, और उस विशालता में वह वृत्र को जो कि सीमा में बांधनेवाला है, उस वृत्र को जो कि आच्छादक है, विनष्ट कर देता है। विष्णु का परम पद, सर्वोच्च धाम, आनंद और प्रकाश का त्रिगुणित लोक, प्रिय पदम्, है जिसे कि बुद्धिमान् मनुष्य द्यौ में फैला हुआ देखते हैं, मानो कि वह दर्शन (Vision) की चमकीली आंख हो‡; यही विष्णु का सर्वोच्च स्थान है जो कि वैदिक यात्रा का लक्ष्य है। यहां फिर वैदिक विष्णु पौराणिक नारायण, परिपालक तथा प्रेम के अधिपति, का पूर्ववर्ती तथा उसका पर्याप्त मूलस्रोत है।

अवश्य ही वेद में कथित विष्णु का आधारभूत विचार उस पौराणिक व्यवस्था को जो कि यहां उच्च त्रिमूर्त्ति तथा उससे छोटे देवों में की गयी

*इन्द्रस्य युज्यः सखा। १.२२.१९

†अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् त्सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व। ४.१८.११

‡तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ १.२२.२०

हैं, अस्वीकार करता है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में केवल एक विश्वात्मक देव था जिसके विष्णु, रुद्र, ब्रह्मणस्पति, अग्नि, इन्द्र, वायु, मित्र, वरुण सब एकसमान रूप तथा विराट् अंग थे। उनमें से प्रत्येक अपने आपमें संपूर्ण देव है तथा सब अन्य देवों को अपने अंदर सम्मिलित किये है। उपनिषदों में जाकर इस सबसे उच्च और एक देव के विचार का पूर्ण उद्भव हो जाना जिसे कि वेद की ऋचाओं में अस्पष्ट तथा अव्याख्यात छोड़ दिया गया था और यहां तक कि कहीं कहीं ,जिसे नपुंसक लिंग में 'तत्' (वह) या 'एकात्मक सत्ता' (एक सत्) कहकर छोड़ दिया गया था, और दूसरी तरफ अन्य देवों की कर्मकांडी सीमितता तथा उनके मानवीय या व्यक्तिगत रूपों का क्रमशः निर्धारित हो जाना (जो कि विकसित होते हुए गाथाविज्ञान के दबाव के अनुसार हुआ) इस बात के कारण हुए कि अंत में हिन्दू देववंशावली की पौराणिक रचना में जाकर ये देव पदच्युत हो गये तथा अपेक्षया कम प्रयोग में आये हुए तथा अधिक सामान्यभूत नामों व रूपों–ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र–को सिंहासन प्राप्त हो गया।

दीर्घतमस् औचथ्य के सर्वव्यापी विष्णु के प्रति कहे गये इस सूक्त में यह विष्णु का अपना अद्भुत कार्य है, विष्णु के तीन पदों की महत्ता है जिसका गान किया गया है। हमें अपने मनों से उन विचारों को जो कि बाद के गाथाशास्त्र के अनुसार बने हुए हैं, निकाल देना चाहिये। हमें यहां वामन विष्णु, दैत्य बलि और उन दिव्य तीन कदमों से कुछ वास्ता नहीं है जिन्होंने पृथिवी, द्यौ तथा पाताल के प्रकाशरहित अधोवर्ती लोकों को व्याप लिया था। वेद में विष्णु के तीन कदमों को स्पष्टतया दीर्घतमस् ने इस रूप में व्याख्यात किया है कि वे पृथिवी, द्यौ तथा उच्च त्रिगुणित तत्त्व, त्रिधातु हैं। यह द्यौ से परे स्थित या इसके सर्वोच्च धरातल के रूप में इसके ऊपर समारोपित, नाकस्य पृष्ठ, सर्वोच्च त्रिगुणित तत्त्व ही है जो कि इस सर्वव्यापी देव का परम पद (चरण) या सर्वोच्च धाम है।

विष्णु विस्तृत गतिवाला (उरुक्रम) देव है। यह वह है जो कि चारों तरफ गया हुआ है–जैसा कि ईश उपनिषद् के शब्दों में प्रकट किया है, स पर्यगात्,–उसने अपने को तीन रूपों में, द्रष्टा, विचारक और रचयिता के रूप में पराचेतन आनंद में, मन के द्यौ में, भौतिक चेतना की पृथिवी में विस्तृत किया हुआ है, त्रेधा विचक्रमाण। उन तीन चरणों में उसने पार्थिव लोकों को माप लिया है, उसने उन्हें उनके संपूर्ण विस्तार के साथ रच दिया है; क्योंकि वैदिक विचार में भौतिक लोक जिसमें हम निवास करते है केवल अनेक पदों में से एक है जो कि अपनेसे परे के प्राणमय तथा मनोमय लोकों को ले जाता है और उन्हे थामता है। उन चरणों में वह पृथिवी तथा मध्यलोक को,–पृथिवी है भौतिक लोक, मध्यलोक है वायु अर्थात् क्रियाशील जीवनतत्त्व का अधिपति, प्राणमय लोक,–त्रिगुणित द्यौ को तथा इसके तीन जगमगाते हुए ऊर्ध्वशिखरों को, त्रीणि रोचना, थामता है। इन द्युलोकों को ऋषि ने पूर्णतासाधक उच्चतर पद के रूप में (उत्तर सधस्थ) वर्णित किया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ सचेतन सत्ता की उत्तरोत्तर प्रगतिशील आत्म-परिपूर्णता करने के त्रिविध स्थान, त्रिषधस्थ है, पृथिवी है निम्नस्थान, प्राणमय लोक है मध्यवर्ती, द्यौ उच्च स्थान है। ये सब विष्णु की त्रिविध गति में समाविष्ट है। (देखो, मंत्र पहला)

पर इससे आगे भी है; एक वह लोक भी है जहां कि आत्म-परिपूर्णता सिद्ध हो जाती है, जो कि विष्णु का सर्वोच्च पद (चरण) है। इस दूसरी ऋचा में ऋषि उसे केवल 'तद्' (उस) कहकर वर्णित करता है; "उस" को विष्णु और आगे गति करता हुआ अपनी दिव्य शक्ति के द्वारा अपने तृतीय पग में प्रस्तुत करता है या दृढतया स्थापित कर देता है, प्र-स्तवते। इसके बाद विष्णु का वर्णन ऐसी भाषा में किया गया है जो कि भयावह रुद्र के साथ उसकी वास्तविक तद्रूपता को निर्दिष्ट करती है, लोकों का भीषण और खतरनाक शेर जो कि इस होते हुए उद्भव में पशुओं के अधिपति, पशुपति, के रूप में क्रिया आरंभ करता

हैं, और ऊपर की तरफ सत्ता के पहाड़ पर जहां कि वह निवास करता हैं, गति करता चलता है, अधिकाधिक कठिन और दुर्गम स्थानों के बीच से विचरता हुआ चलता जाता है जब तक कि वह ऊर्ध्वशिखरों पर नहीं जा खड़ा होता। इस प्रकार विष्णु की इन तीन विशाल गतियों में सब पांचों लोक और उनके प्राणी अपने निवास को प्राप्त किये हुए हैं। पृथिवी, द्यौ तथा वह आनदमय लोक (तद्) ये तीन पद हैं। पृथिवी और द्यौ के बीच में है अन्तरिक्ष अर्थात् प्राणमय लोक, शाब्दिक अर्थ लें तो "मध्यवर्ती निवास"। द्यौ तथा आनंदमय के बीच में एक दूसरा विस्तृत अन्तरिक्ष या "मध्यवर्ती निवास" है, महर्लोक, वस्तुओं के परचेतनात्मक सत्य का लोक। (देखो, मंत्र दूसरा)

मनुष्य की शक्ति को और मनुष्य के विचार को–शक्ति जो कि शक्तिशाली रुद्र से आती है और विचार जो कि ब्रह्मणस्पति, शब्द के रचनाशील अधिपति, से आता है–इस महती यात्रा में इस विष्णु के लिये या इस विष्णु के प्रति आगे आगे जाना चाहिये, जो विष्णु लक्ष्यस्थान पर, ऊर्ध्वशिखर पर, पहाड़ की अंतिम चोटी पर, खड़ा हुआ (गिरिक्षित्) है। उसी की यह विशाल विश्वव्यापी गति है; वह विश्व का बैल है जो कि गति की सब शक्तियों का और विचार के सब पशु-यूथों का आनंद लेता तथा उन्हें फलप्रद बना देता है। यह दूर तक फैला विस्तृत स्थान जो कि हमारी आत्मपरिपूर्णता साधने के लोक के रूप में, महान् यज्ञ की त्रिगुणित वेदि के रूप में, हमारे सामने प्रकट होता है उस सर्वशक्तिशाली असीम के केवल तीन ही चरणों के द्वारा इस प्रकार मापा गया है, इस प्रकार रचित हो गया है। (देखो, मंत्र तीसरा)

ये तीनों चरण सत्ता के आनंद के मधुरस से परिपूर्ण हैं। उन सब को यह विष्णु अपने सत्ता के दिव्य आह्लाद से भर देता है। उसके द्वारा वे नित्य रूप से धृत हो जाते हैं और वे क्षीण या विनष्ट नहीं होते किंतु अपनी स्वाभाविक गति की आत्म-समस्वरता में सदा ही अपनी विशाल तथा असीमित सत्ता के अक्षय आनंद को, अविनश्वर मद को, प्राप्त किये

रहते हैं। विष्णु उन्हें अक्षय रूप में धृत कर देता है, उन्हें अविनाश्य रूप में रक्षित कर देता है। वह एक है, वही अकेला, एक-सत्ता धारी देव है, और वह अपनी सत्ता के अदर उस त्रिविध दिव्य तत्त्व (त्रिधातु) को धारण किये है जिसे कि हम आनदमय लोक में, पृथिवी में जहा कि हमारा आधार है तथा द्यौ में भी जिसे कि हम अपने अदर विद्यमान मनोमय पुरुष के द्वारा स्पर्श करते हैं, अधिगत करते हैं। सब पाचों लोको को वह धारण किये है। (देखो, मत्र चौथा)। त्रिधातु त्रिविध तत्त्व या सत्ता की त्रिविध सामग्री, वेदांत का 'सत्-चित्-आनद' है, वेद की सामान्य भाषा में यह वसु अर्थात् ऐश्वर्य, ऊर्ज् अर्थात् हमारे जीवन का प्रचुर बल, और प्रियम् या मयस् अर्थात् हमारी सत्ता के तत्त्व के अदर विद्यमान आनद और प्रेम है। इन तीन वस्तुओं से सब जो कुछ भी अस्तित्व में है रचा गया है और हम उनकी पूर्णता को तब प्राप्त करते हैं जब हम अपनी यात्रा के लक्ष्य पर पहुच जाते हैं।

यह लक्ष्य है आनद जो कि विष्णु के तीन पदों में से अतिम (परम) है। ऋषि अनिश्चित शब्द "तत्" को फिर लेता है जिसके द्वारा पहले उसने अस्पष्ट रूप में इसका निर्देश किया था, यह शब्द उस आनद को प्रकट करता है जो कि विष्णु की गति का लक्ष्य है। यह आनद ही ह जो कि मनुष्य के लिये उसके आरोहण में आनेवाला वह लोक है जिसमें वह दिव्य सुख का स्वाद लेता है, असीम चेतना की पूर्ण शक्ति से युक्त हो जाता है, अपनी असीम सत्ता को अनुभव कर लेता है। यहा पर सत्ता के मधुरस का वह उच्च-स्थित स्रोत है जिससे कि विष्णु के तीन पद भरे हुए हैं। वहा उस मधुरता के रस के पूर्ण आनद में वे आत्माए जो कि देवत्व की इच्छुक होती हैं रहती हैं। यहा उस परम (अतिम) पद में, विशाल गतिवाले विष्णु के सर्वोच्च धाम में शहद के रस का झरना है, दिव्य मधुरता का स्रोत है, क्योंकि वहा पर जो निवास करता है वह परम देव है, उन आत्माओं का जो कि उसकी अभीप्सा करती हैं पूर्ण मित्र और प्रेमी है, अर्थात् विष्णु की स्थिर और पूर्ण वस्तुसत्ता है जिसके

कि प्रति विस्तृत गतिवाला विश्वस्थ विष्णु देव आरोहण करता है। (देखो, मत्र पाचवा)

ये दो है, गति करनेवाला विष्णु यहा पर, सदा-स्थिर आनदास्वादक विष्णु देव वहा पर, और ये इस युगल के उच्च निवासस्थान है, सच्चिदानद के त्रिगुणित लोक है, जिन्हे कि इस लबी यात्रा के, इस महान् ऊर्ध्वमुखी गति मे, लक्ष्य के तौर पर हम पहुचना चाहते है। वहाँ को सचेतन विचार की, सचेतन शक्ति की बहुत से सीगोवाली गौए गति कर रही है–वह उनका लक्ष्य है, वह उनका निवासस्थान है। वहा उन लोको मे इस विशाल गतिवाले बैल, उन समस्त बहुशृगी गौओ के अधिपति और नेता,–सर्वव्यापी विष्णु जो कि विराट् देव, हमारी आत्माओं का प्रेमी और मित्र, परात्पर सत्ता तथा परात्पर आनद का अधिपति है, –के परमपद, सर्वोच्च धाम की विशाल, परिपूर्ण, असीम जगमगाहट रहती है जो कि यहां हमारे ऊपर आकर चमकती है। (देखो, मत्र छठा)

तेरहवां अध्याय

# सोम, आनन्द व अमरता का अधिपति

ऋग्वेद, मण्डल ९, सूक्त ८३

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥१॥

(ब्रह्मणस्पते) हे आत्मा के अधिपति! (पवित्रं ते विततम्) तुझे पवित्र करनेवाली छानती तेरे लिये तनी हुई है; (प्रभुः) प्राणी के अंदर प्रकट होकर तू (विश्वतः गात्राणि पर्येषि) उसके सब अंगों में पूर्णतः व्याप्त हो जाता है। (आमः) जो अपरिपक्व है, और (अतप्ततनूः) जिसका शरीर अग्नि के ताप में पड़कर तप्त नहीं हुआ है वह (न तद् अश्नुते) उस आनंद का आस्वादन नहीं कर पाता; (शृतासः इत्) केवल वे ही जो कि ज्वाला के द्वारा पककर तैयार हो गये हैं (वहन्तः) उसे धारण करने में समर्थ होते हैं, और (तत् समाशत) उसका आस्वाद ले पाते हैं ॥१॥

तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन्।
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा ॥२॥

(तपोः पवित्रम्) तीव्र [सोम] को शुद्ध करने की छानती (दिवस्पदे विततम्) द्यौ के पृष्ठ पर तनी हुई है; (अस्य तन्तवः) इसके तार (शोचन्तः) चमक रहे हैं और (व्यस्थिरन्) फैले हुए स्थित हैं। (अस्य आशवः) इसके वेगपूर्ण आनंद-रस (पवीतारम्) उस आत्मा को जो कि उसे शुद्ध करता है (अवन्ति) प्रीणित करते हैं; वे [रस] (चेतसा) सचेतन हृदय के द्वारा (दिवः पृष्ठम् अधितिष्ठन्ति) द्यौ के उच्च स्तर पर जा चढ़ते हैं ॥२॥

अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः ॥३॥

(अप्रिय पृश्नि) यही वह सर्वश्रेष्ठ चितकबरा बैल है जो कि (उषस अरूरुचत्) उषाओं को चमकाता है, (उक्षा) यह पुरुष (भुवनानि बिभर्ति) सभूति के लोको को धारण करता है और (वाजयु) समृद्धि के लिये प्रयत्न करता है, (मायाविन पितर) पितरो ने जो कि निर्माण-कारक ज्ञान से युक्त थे (अस्य मायया) उस [सोम] की ज्ञान की शक्ति से (ममिरे) उसकी प्रतिमा का निर्माण किया, (नृचक्षस) दिव्य दर्शन में प्रबल उन्होने (गर्भम् आदधु) उसे उत्पत्स्यमान शिशु की न्याईं अदर धारण किया ॥३॥

गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति पाति देवाना जनिमान्यद्भुत ।
गृभ्णाति रिपु निधया निधापति सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत ॥४॥

(गन्धर्व इत्था) गधर्व के रूप में आकर वह (अस्य पद रक्षति) उसके सच्चे पद की रक्षा करता है, (अद्भुत) परमोच्च तथा अद्भुत होकर यह (देवाना जनिमानि पाति) देवो के जन्म को रक्षित करता है, (निधापति) आतरिक निधान का अधिपति वह (निधया) आतरिक निधान के द्वारा (रिपु गृभ्णाति) शत्रु को पकडता है। (सुकृत्तमा) वे जो कि कर्मों में पूर्णत सिद्ध हो गये हैं (मधुन भक्षम्) उसके मधु के भोग का (आशत) स्वाद लेते हैं ॥४॥

हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्य नभो वसान परि यास्यध्वरम् ।
राजा पवित्ररथो वाजमारुह सहस्रभृष्टिर्जयसि श्रवो बृहत् ॥५॥

(हविष्म) हे भोजन को अपने अदर धारण रखनेवाले ! [सोम !] (हवि) तू वह दिव्य भोजन है, (महि) तू विशाल है (दैव्य सद्म) दिव्य घर है; (नभ वसान) आकाश को चोगे की तरह धारण किये हुए तू (अध्वर परियासि) यज्ञ की यात्रा को चारो ओर से परिवेष्टित करता है। (पवित्ररथ राजा) अपने रथ के तौर पर परिशुद्ध करनेवाली छाननी से युक्त, राजा तू (वाजम् आरुह) विपुल समृद्धि के प्रति ऊपर आरोहण करता है, (सहस्रभृष्टि) अपनी सहस्र जाज्वल्यमान दीप्तियों से युक्त तू (बृहत् श्रव जयसि) विशाल ज्ञान को जीत लेता है ॥५॥

## भाष्य

वैदिक मंत्रों का यह एक साफ दिखायी देनेवाला, एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप है कि यद्यपि वैदिक संप्रदाय उस अर्थ में जो कि 'एकदेवतावादी' शब्द का आज अर्थ लिया जाता है, एकदेवतावादी नहीं था, तो भी वेद-मंत्रों में निरंतर कभी तो बिल्कुल खुले और सीधे तौर पर और कभी एक जटिल तथा कठिन सी पद्धति में, यह बात सदा एक आधारभूत विचार के रूप में प्रस्तुत की हुई मिलती है कि अनेक देव जिनका मंत्रो में आवाहन किया गया है असल में एक ही देव है,—देव एक ही है उसके नाम अनेक हैं, अनेक रूपों में वह प्रकट हुआ है, अनेक दिव्य व्यक्तित्वों के छद्मवेश में यह मनुष्य के पास पहुचा है। चाहे भारतीय मन के सामने यह दृष्टिकोण कुछ भी कठिनाई उपस्थित नहीं करता, पर पाश्चात्य विद्वान् वेद के इस धार्मिक दृष्टिकोण से चकरा गये हैं और उन्होंने इसकी व्याख्या करने के लिये वैदिक हीनोथीज्म (Vedic Henotheism) के एक सिद्धांत का आविष्कार कर लिया है। उनका विचार है कि वस्तुतः वैदिक ऋषि बहुदेवतावादी ही थे, पर वे प्रत्येक देव को ही जब कि वे उसकी पूजा कर रहे होते थे उसे ही सबसे अधिक मुख्यता दे देते थे और यहां तक कि एक प्रकार से उसे ही एकमात्र देव समझ लेते थे। 'हीनोथीज्म' का यह आविष्कार एक विदेशीय मनोवृत्ति का इस बात के लिये प्रयत्न है कि वह भारतीयों के इस विचार को किसी तरह समझ सके और उसकी कुछ व्याख्या कर सके कि दिव्य सत्ता वस्तुतः एक ही है जो कि अपने आपको अनेक नामों और रूपों में व्यक्त करती है तथा उस दिव्य सत्ता का हर एक ही नाम और रूप उसके पूजक के लिये एक और परम देव होता है। देवविषयक यह विचार जो कि पौराणिक सम्प्रदायों का आधारभूत विचार है, पहले ही से हमारे वैदिक पूर्वजों में प्रचलित था।

वेद में पहले से ही बीजरूप में 'ब्रह्म'-संबंधी वेदांतिक विचार मौजूद है। वेद एक अज्ञेय, एक कालातीत सत्ता को, उस सर्वोपरि देव को स्वी-

कार करता है जो कि न आज है न कल, जो देवों की गति से गतिमान् होता है पर स्वयं, मन जब इसे पकड़ने का यत्न करता है तो उसके सामने से अंतर्धान हो जाता है (ऋग्वेद १. १७०. १)*। इसे नपुंसक लिंग में 'सत्' के द्वारा वर्णित किया गया है और प्रायः अमृत से, सर्वोच्च त्रिगुणित तत्त्व से, बृहत् आनंद से, जिनकी मनुष्य अभीप्सा करता है, इसकी तद्रूपता दिखायी गयी है। ब्रह्म गतिरहित (अक्षर) है, सब देवों का एक केंद्र है। "गतिरहित ब्रह्म जो कि महान् है, गौ (अदिति) के पद के अंदर पैदा हुआ है, . . . वह महान् है, देवों का बल है, एक है" (३. ५५. १)†। यह ब्रह्म वह एक सत्ता है जिसे द्रष्टा ऋषि भिन्न भिन्न नाम देते हैं,-इन्द्र, मातरिश्वा, अग्नि (१.१६४.४६)‡।

यह ब्रह्म, यह 'एक सत्', जिसे कि इस प्रकार भाववाचक (अपुरुष-वाचक) रूप में नपुंसक लिंग में वर्णित किया गया है, इस प्रकार भी निरूपित किया गया है कि यह देव है, परम देवता है, वस्तुओं का पिता है जो कि यहां मानवीय आत्मा होकर पुत्र के रूप में प्रकट होता है। वह आनंदमय है, जिसे पाने को देवों की गति आरोहण में अग्रसर होती है, वह एक साथ पुरुष और स्त्री, वृषन्, धेनु, दोनों के रूप में व्यक्त हुआ है। देवों में से प्रत्येक ही उस परम देव की एक अभिव्यक्ति है, एक स्वरूप है, एक व्यक्तित्व है। वह अपने किसी भी नाम और रूप द्वारा, इन्द्र द्वारा, अग्नि द्वारा, सोम द्वारा साक्षात्कृत किया जा सकता है, क्योंकि उनमेंसे प्रत्येक अपने में एक पूर्ण देव है और हमें दीखनेवाले केवल अपने उपरिपार्श्व या रूप में ही वह औरों से भिन्न लगता है, वैसे वह अपने अंदर सब देवों को धारण किये होता है।

---

*न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभिसञ्चरेण्यमुताधीतं विनश्यति ॥

†. . .महद् विजज्ञे अक्षरं पदे गोः। . . . . महद् देवानामसुरत्वमेकम्।

‡एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति—अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

इस प्रकार अग्नि की एक सर्वोच्च तथा विराट् देव के रूप में स्तुति की गयी है, "तू, हे अग्नि! जब पैदा होता है तब वरुण होता है, जब पूर्णतः प्रदीप्त हो जाता है तब तू मित्र होता है, हे शक्ति के पुत्र! तेरे अंदर सब देव विद्यमान हैं, हवि देनेवाले मर्त्य के लिये तू इन्द्र होता है‡। तू अर्यमा होता है जब कि तू कन्याओं के गुह्य नाम को धारण करता है। जब तू गृहपति और गृहपत्नी (दम्पती) को एक मनवाला करता है तब वे तुझे किरणों से (गौओं से, गोभिः) चमका देते हैं, सुधृत मित्र की तरह§। तेरी महिमा के लिये हे रुद्र! मरुत उसे अपने पूरे जोर से चमकाते हैं जो कि तेरा चारु और चित्र-विचित्र जन्म है। जो विष्णु का परम पद है उसके द्वारा तू किरणों के (गौओं के, गोनाम्) गुह्य नाम का रक्षण करता है*। तेरी महिमा के द्वारा हे देव! देवता सत्यदर्शन को पा लेते हैं और (बृहत् अभिव्यक्ति की) सम्पूर्ण बहुता को अपने अंदर धारण करके वे अमृत का आस्वादन करते हैं। मनुष्य अपने अंदर यज्ञ के होता के रूप में अग्नि को स्थित करते हैं, जब कि (अमृत की) इच्छा करते हुए वे सत्ता की आत्म-अभिव्यक्ति को (देवों के लिये) अर्पित कर देते हैं†। तू ज्ञानी होकर पिता का उद्धार कर और (पाप तथा अंधकार को) दूर भगा दे, यह जो कि हमारे अंदर तेरे पुत्र के रूप में पैदा हुआ है, हे शक्ति

---

‡त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय॥ ऋग्० ५.३.१

§त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि।
अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभि र्यद्दम्पती समनसा कृणोषि॥ ऋग्० ५.३.२

*तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम्।
पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्॥ ऋग्० ५.३.३

†तव श्रिया सुदृशो देव देवाः पुरू दधाना अमृतं सपन्त।
होतारमग्निं मनुषो नि षेदुर्दशस्यन्त उशिजः शंसमायोः॥ ऋग्० ५.३.४

के पुत्र!"§ (५.३.९)। इन्द्र की भी इसी प्रकार की स्तुति वामदेव ऋषि द्वारा की गयी है, और इस ९म मंडल के ८३वें सूक्त में, जैसा कि अन्य भी कई सूक्तों में है, सोम भी अपने विशेष व्यापारों से सर्वोच्च देव के रूप में प्रकट होता है।

सोम आनंद के रस का, अमृत-रस का अधिपति है। अग्नि ही की तरह वह पौधों में, पार्थिव उपचयों में और जलों में पाया जाता है। सोम-रस जो कि बाह्य यज्ञ में प्रयुक्त किया जाता है इसी आनंद-रस का प्रतीक है। यह पीसने के पत्थर (अद्रि, ग्रावा) के द्वारा निचोड़ा जाता है, इस सोम पीसने के पत्थर का विद्युद्वज्र, इन्द्र के वज्रभूत विद्युत्-शक्ति जिसे भी 'अद्रि' ही कहा जाता है, के साथ घनिष्ठ प्रतीकात्मक संबंध है। वेदमंत्र इसी पत्थर की प्रकाशमय गर्जनाओं का वर्णन कर रहे होते हैं जब कि वे इन्द्र के वज्र के प्रकाश और शब्द का वर्णन करते हैं। एक बार सत्ता के आनंद के रूप में सोम को निचोड़कर निकाल लिये जाने पर फिर इसे छाननी (पवित्र) के द्वारा परिशुद्ध करना होता है और छाननी में से छनकर वह अपने पवित्र रूप में रस के प्याले (चमू) में आता है जिसमें रखा जाकर वह यज्ञ में लाया जाता है, या वह इन्द्र को पान कराने के लिये 'कलशों' में भर लिया जाता है। अथवा, कहीं कहीं इस प्याले या कलश का प्रतीक उपेक्षित कर दिया गया है, और सोम का सीधे इस तरह वर्णन किया गया है, कि वह आनंद की धारा के रूप में प्रवाहित होकर देवों के घर में, अमृत के सदन में, आता है। ये वर्णन प्रतीकरूप हैं यह बात नवम मंडल के अधिकांश सूक्तों में, जो कि सारे ही सोमदेवतापरक हैं, बहुत ही स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ, यहां सोमरस का कलश मनुष्य के भौतिक शरीर का प्रतीक है और इस छाननी के लिये जिससे छानकर इसे परिशुद्ध किया जाता है यह कहा गया है कि वह द्यौ के स्थान में, दिवस्पदे, तनी हुई है।

---

§अव स्पृधि पितरं योधि विद्वान् पुत्रो यस्ते सहसः सून ऊहे। ... ५.३.९

इस सूक्त का प्रारंभ एक आलंकारिक वर्णन से होता है जिसमें सोमरस को छानकर शुद्ध करने तथा इसे कलश में भरने के भौतिक कार्यों के साथ पूरा पूरा रूपक बांधा गया है। द्यौ के पृष्ठ पर तनी हुई छाननी या परिशुद्ध करने का उपकरण ज्ञान (चेतस्) से प्रकाशित हुआ मन प्रतीत होता है; मनुष्य का भौतिक शरीर कलश है। पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्पत, छाननी तेरे लिये फैली हुई है, हे आत्मा के अधिपति, प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत, अभिव्यक्त होकर तू सर्वत्र अंगों में व्याप्त हो जाता है या अंगों के चारों तरफ गति करने लगता है। सोम को यहां 'ब्रह्मणस्पति' नाम से संबोधित किया गया है, जो नाम कहीं कहीं अन्य देवों के लिये भी व्यवहृत हुआ है पर प्रायः जो बृहस्पति, रचनाकारक शब्द के अधिपति, के लिये नियत है। 'ब्रह्म' वेद में वह आत्मा या आत्मिक चेतना है जो कि वस्तुओं के गुह्य हृदय के अंदर से आविर्भूत होती है, किंतु अधिकतर यह वह अन्तःप्रेरित, रचनाकारक, गुह्य सत्य से परिपूर्ण विचार है जो कि उस चेतना के अंदर से उद्भूत होता है और मन का विचार, मन्म, बन जाता है। तो भी, यहां इसका अभिप्राय स्वतः आत्मा ही प्रतीत होता है। सोम, आनंद का अधिपति, वह सच्चा रचयिता है जो कि आत्मा को धारण करता है और उस आत्मा में से एक दिव्य रचना को उत्पन्न कर देता है। उसके लिये मन और हृदय प्रकाशित होकर छाननी बना दिये गये हैं; इसमेंकी चेतना सर्वविध संकीर्णता और द्वंध से मुक्त होकर व्यापक रूप में विस्तृत कर दी गयी है ताकि वह इंद्रिय-जीवन तथा मनोमय जीवन के पूर्ण प्रवाह को प्राप्त कर सके और इसे वास्तविक सत्ता के विशुद्ध आनंद में, दिव्य आनंद में, अमर आनंद में परिणत कर सके।

इस प्रकार गृहीत होकर, साफ होकर, छाना जाकर जीवन का सोमरस आनंद में परिणत होकर मानव-शरीर के समस्त अंगों के अंदर झरता हुआ आता है, जैसे कि किसी कलश में, और उन सबके अंदर से गुजरता हुआ पूर्णतः उनके एक-एक भाग में प्रवाहित हो जाता है। जिस प्रकार किसी मनुष्य का शरीर तीव्र मदिरा के सस्पर्श तथा मद से परि-

पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार सारा भौतिक शरीर इस दिव्य आनंद के सत्स्पर्श तथा मद से परिपूरित हो जाता है। 'प्रभु' और 'विभु' शब्द वेद में बाद के "स्वामी" अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं, किंतु एक नियत आध्यात्मिक अर्थ में आये हैं, जैसे कि बाद की भाषा में प्रचेतस् और विचेतस् या प्रज्ञानन् और विज्ञानन्। "विभु" का अर्थ है इस प्रकार का होना कि व्यापक रूप में अस्तित्व में आना, "प्रभु" का अर्थ है ऐसा होना कि चेतना के सम्मुख भाग में एक विशेष बिन्दु पर किसी विशेष वस्तु या अनुभूति के रूप में अस्तित्व में आना। सोमरस मदिरा की तरह से छाननी में से बूंद बूंद करके निःसृत होता है और उसके बाद कलश में व्याप्त हो जाता है, यह किसी विशेष बिंदु पर केंद्रित हुई चेतना के अंदर उद्भूत होता है, प्रभु, या ऐसे आता है जैसे कि कोई विशेष अनुभूति, और फिर आनंद बनकर समस्त सत्ता को व्याप्त कर लेता है, विभु।

किंतु प्रत्येक मानव-शरीर ऐसा नहीं है कि वह उस दिव्य आनंद के प्रबल और प्रायःकर प्रचंड मद को ग्रहण कर सके, सम्हाल सके, और उसका उपभोग कर सके। अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते, वह जो कि कच्चा है और जिसका शरीर तप्त नहीं हुआ है उसका आस्वादन नहीं कर सकता या उसका रस नहीं ले पाता; शृतास इद् वहन्त तत् समाशत केवल वे ही जो कि अग्नि में पक चुके हैं उसे धारण कर पाते हैं और पूर्णतः उसका स्वाद ले सकते हैं। शरीर के अंदर उंडेला हुआ दिव्य जीवन का रस एक तीव्र, उमड़कर प्रवाहित होनेवाला और प्रचंड आनंद है, उस शरीर में यह नहीं थामा जा सकता जो कि जीवन की बड़ी से बड़ी अग्नि-ज्वालाओं में तपी गयी कठोर तपस्याओं द्वारा तथा कष्टसहन और अनुभव द्वारा इसके लिये तैयार नहीं हो पाया है। मिट्टी का कच्चा घड़ा जो कि आवे की आंच के द्वारा पककर दृढ़ नहीं हो गया है सोमरस को नहीं थाम सकता, यह टूट जाता है और बहुमूल्य रस को बखेर देता है। इसी प्रकार मनुष्य का भौतिक शरीर जो कि आनंद के तीव्र रस को पीना चाहता है, कष्टसहन के द्वारा तथा जीवन की सब

उत्पीड़नकारी अग्नियों पर विजय पाने के द्वारा, सोम की रहस्यमय तथा आग्नेय तीव्रता के लिये तैयार हो चुका होना चाहिये, नहीं तो उसकी सचेतन सत्ता इसे थामने में समर्थ नहीं हो सकेगी, वह उसे चखते ही या चखने से भी पहले बखेर देगी और खो देगी या यह इसके स्पर्श से मानसिक तौर पर और भौतिक तौर पर भग्न हो जायगी, टूट जायगी। (देखो, मन्त्र पहला)

इस तीव्र तथा आग्नेय रस को शुद्ध करने की आवश्यकता है और इसे शुद्ध करने के लिये छाननी द्यौ के पृष्ठ पर विस्तृत रूप में फैलायी जा चुकी है ताकि यह उसमें आकर पड़े, तपाष्पवित्रं विततं दिवस्पदे, इसके तन्तु या रेशे सब पवित्र प्रकाश के बने हैं और इस तरह लटके हुए हैं जैसे कि किरणें, *शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन्*। इन रेशों के बीच में से रस को धाराओं को प्रवाहित होकर निकलना है। यह रूपक स्पष्ट ही विशुद्धीकृत मानसिक तथा आवेशात्मक चेतना, सचेतन हृदय, चेतस, की ओर संकेत करता है, विचार और आवेश ही जिसके तन्तु या रेशे हैं। द्यौ है विशुद्ध मानसिक लोक जो कि प्राण तथा शरीर की प्रतिक्रियाओं का विषय नहीं होता। द्यौ के,—उस विशुद्ध मानसिक सत्ता के जो कि प्राणमय तथा भौतिक चेतना से भिन्न है,—पृष्ठ पर विचार और आवेश सच्चे बोध तथा सुखमय भौतिक स्पन्दन की पवित्र किरणें बन जाते हैं और उन पीड़ित तथा अन्धकाराच्छादित मानसिक, आवेशात्मक और ऐन्द्रियिक प्रतिक्रियाओं को जो कि अब तक हमारे अंदर होती थीं, छोड़ देते हैं। संकुचित और कम्पायमान वस्तुएं, जो कि दुःख के तथा अनुभव के धक्कों के बाहुल्य से अपना बचाव करने में लगी रहती हैं, रहने के बजाय, वे अब स्वतन्त्र, दृढ़ और चमकदार बनकर खड़े होते हैं और आनंदपूर्वक अपने को विस्तृत कर लेते हैं ताकि विश्वव्यापी सत्ता के समस्त सभाव्य सस्पर्शों को वे ग्रहण कर सकें तथा उन्हें दिव्य आनंद में परिणत कर सकें। इसलिये सोम को छानने की छाननी को सोम के ग्रहण करने के लिये द्यौ के पृष्ठ पर, दिवस्पदे, फैली हुई बताया गया है।

इस प्रकार गृहीत तथा विशुद्धीकृत होकर ये तीव्र और प्रचण्ड रस, ये सोम-रस की वेगवती तथा मद ला देनेवाली शक्तियां, अब मन को विक्षुब्ध या शरीर को आहत नहीं करतीं, अब बिखरतीं या व्यर्थ नहीं जातीं, किंतु अपने परिशुद्ध करनेवाले के मन तथा शरीर को प्रीणित करती और बढाने लगती हैं, अवन्ति, अवन्त्यस्य पवीतारमाशव। इस प्रकार उसके मानसिक, आवेशात्मक, सवेदनात्मक और भौतिक सत्ता के समग्र आनद में उसे बढाते हुए वे रस उसे लेकर विशुद्धीकृत तथा आनदपूर्ण हृदय में से होकर द्यौ के सर्वोच्च पृष्ठ या स्तर की ओर उठ जाते हैं, अर्थात् स्व वे उस प्रकाशमान लोक की ओर जहा कि मन जो कि अन्तर्ज्ञान (Intuition), अन्त प्रेरणा (Inspiration), स्वत प्रकाश ज्ञान (Revelation) को ग्रहण करने में समर्थ हो चुका है, सत्य (ऋतम्) की उज्ज्वलता में स्नान कर लेता है, विशालता (बृहत्) की असीमता में उन्मुक्त हो जाता है। दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा। (देखो, मत्र दूसरा)

यहा तक ऋषि ने सोम का वर्णन उसकी भावरूप (अपुरुषरूप) अभिव्यक्ति के तौर पर, मनुष्य की सचेतन अनुभूति में आनेवाले आनद या दिव्य सत्ता के सुख के तौर पर, किया है। अब वह, जैसी कि वैदिक ऋषियों की प्रवृत्ति है, दिव्य अभिव्यक्ति से दिव्य पुरुष की तरफ मुडता है और तुरत सोम परम पुरुष, उच्च तथा विश्वव्यापी देव, के रूप में प्रकट होता है। अरूरुचद उपस पृश्निरग्रिय, परम चितकबरा होकर वह उषाओं को चमकाता है, उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयु, वह बैल, लोकों को धारण करता है, समृद्धि को चाहता हुआ। पृश्नि (चितकबरा) शब्द दोनों के लिये प्रयुक्त होता है, बैल अर्थात् परम पुरुष और गौ अर्थात् स्त्रीभूत शक्ति, रगवाची सभी शब्दों, श्वेत, शुक्र, हरि, हरित्, कृष्ण, हिरण्यय की तरह वेद में यह (पृश्नि) भी प्रतीकात्मक है, रग, वर्ण, रहस्यवादियों की भाषा में सदा गुण, स्वभाव आदि को बताता है। चितकबरा बैल वह देव है जो अपनी अभिव्यक्ति में विविधतावाला है, अनेकवर्ण

है। सोम ही वह प्रथम सर्वश्रेष्ठ चितकबरा बैल, संभूति के लोकों का उत्पादक है, क्योंकि उस आनंद में से, सर्वानंदपूर्ण में से ही वे सब निकलते हैं; आनंद ही सत्ताओं की विविधता का पिता है। यह बैल है, उक्षा है, 'उक्षन्' शब्द का अर्थ अपने पर्यायवाची 'वृषन्' की तरह वर्षक, उत्पादक, वीर्यसेचक, प्रचुरता का पिता, बैल, पुरुष होता है; यह वह है जो चेतना की शक्ति को, प्रकृति को, गौ को उपजाऊ बना देता है और अपनी प्रचुरता की धारा के द्वारा लोकों को पैदा करता तथा धारण करता है। यह उषाओं को,–प्रकाश की उषाओं को, सूर्य की चमकीली 'गौओं' की माताओं को,–चमका देता है; और वह समृद्धि को अर्थात् सत्ता, शक्ति और चेतना की परिपूर्णता को, देवत्व के बाहुल्य की जो कि दिव्य *आनंद की शर्त है, इच्छा करता है। दूसरे शब्दों में यह आनंद का* अधिपति (सोम) ही है जो कि हमें सत्य की दीप्तियां और बृहत् की विपुल समृद्धियां, जिनके द्वारा हम अमरत्व प्राप्त करते हैं, प्रदान करता है। (देखो, तीसरे मंत्र का पूर्वार्द्ध)

पितरो ने जिन्होंने कि सत्य को खोज लिया था, सोम के रचनाशील ज्ञान को, उसकी माया को ग्रहण कर लिया और उस आदर्शभूता (ideal) तथा कल्पिका (ideative) परम देव की चेतना के द्वारा उन्होंने मनुष्य के अंदर उस (सोम) की प्रतिमा को रच दिया, उन्होंने उसे जाति के अंदर एक अनुत्पन्न गर्भ में विद्यमान शिशु के रूप में, मनुष्य में वर्तमान देवत्व के बीज के रूप में, उस जन्म के रूप में जो कि मानव चेतना के कोष के अंदर से होना है, प्रतिष्ठित कर दिया। मायाविनो ममिरे अस्य मायया, नृचक्षस पितरो गर्भमादधुः। ये पितर हैं वे प्राचीन ऋषि जिन्होंने वैदिक रहस्यवादियों के मार्ग को खोजकर पता लगाया था, और जो ऐसा माना जाता है कि आध्यात्मिक रूप में अब भी विद्यमान हैं और जाति की भवितव्यता के अधिष्ठाता हैं और देवों की तरह मनुष्य के अंदर उसके अमरत्व की प्राप्ति के लिये कार्य करते हैं। ये वे ऋषि हैं जिन्होंने प्रबल दिव्य दर्शन प्राप्त किया था, नृचक्षस, उस सत्य-दर्शन

(Truth-vision) को प्राप्त किया था जिसके द्वारा वे पणियों से लुका दी गयी गौओ को ढूढ़ लेने में तथा रोदसी की, मानसिक और भौतिक चेतना की, सीमाओ को पार करके परावेतन को, बृहत् सत्य और आनद को, पा लेने में समर्थ हो सके थे (देखो, ऋग्वेद १ ३६ ७, ४ १.१३-१८, ४ २ १५-१८ आदि)। (मत्र तीसरा समाप्त)

सोम गधर्व है, आनद की सेनाओ का अधिपति है, और वह देव के सच्चे पद की, आनद के पृष्ठ या स्तर की, रक्षा करता है, गधर्व इत्था पदमस्य रक्षति। वह सर्वोच्च है, अन्य सब सत्ताओ से बाहर तथा उनके ऊपर स्थित है, उनसे भिन्न और अद्भुत है, और इस प्रकार सर्वोच्च तथा सर्वातीत होता हुआ, लोको के अदर विद्यमान किंतु उन्हें अतिक्रमण करता हुआ वह उन लोको के अदर देवो के जन्मो की रक्षा करता है, पाति देवाना जनिमानि अद्भुत। "देवो के जन्म" वेद में एक सामान्य मुहावरा है जिससे विश्व के अदर दिव्य तत्वो की अभिव्यक्ति होना और विशेषकर मनुष्य के अदर विविध रूपो में देवत्व का निर्माण होना अभिप्रेत है। गत ऋचा में ऋषि ने इस देव का इस रूप में वर्णन किया था कि यह दिव्य शिशु है जो कि जन्म पाने के लिये तैयार हो रहा है,–विश्व में, मानवीय चेतना के अदर आवृत हुआ पडा है। यहां वह उसके विषय में यह कहता है कि वह सर्वातीत है और वह मनुष्य के अदर निर्मित हुए हुए आनद के लोक की तथा दिव्य ज्ञान के द्वारा उसके अदर पैदा हुए हुए देवत्व के रूपो की, शत्रुओ, विभाजन की शक्तियो, असुख की शक्तियो (द्विष, अराती) के आक्रमणो से, अपने अधकारपूर्ण तथा मिथ्या रचना करनेवाले ज्ञान, अविद्या, भ्रम के रूपों सहित अदिव्य सेनाओ से, रक्षा करता है।

क्योकि वह इन आक्रामक शत्रुओ को आतरिक चेतना के जाल में पकड लेता है, वह उस विश्व-सत्य तथा विश्वानुभूति के निधान (विन्यास, सनिवेश) का अधिपति है जो कि इद्रियो तथा बाह्य मन से रचित निधान (विन्यास) की अपेक्षा अधिक गभीर और अधिक सत्य है। इसी आंतरिक

निधान के द्वारा वह मिथ्यात्व, अधकार तथा विभाजन की शक्तियो को पकडता है और उन्हें सत्य, प्रकाश तथा एकता के नियम में ला देता है, गृभ्णाति रिपु निधया निधापति । इसलिये जो मनुष्य इस आतरिक प्रकृति पर शासन करनेवाले आनद के अधिपति' से रक्षित होते हैं वे अपने विचारों और क्रियाओ को आतरिक सत्य तथा प्रकाश के अनुकूल कर लेने में समर्थ हो जाते हैं और फिर बाह्य कुटिलता की शक्तियो के द्वारा स्खलन को प्राप्त नहीं कराये जाते, वे सीधे चलते हैं, वे अपने कार्यों में बिल्कुल पूर्ण हो जाते हैं और अदर होनेवाली क्रिया तथा बाह्य कर्म वे इस सत्य द्वारा सत्ता के समग्र माधुर्य को, मधु को, उस आनद को जो कि आत्मा का भोजन है, आस्वादन करने के योग्य बन जाते है। सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत। (देखो, मत्र चौथा)

यहा सोम इस रूप में प्रकट होता है कि वह हव्य, दिव्य भोजन, आनद तथा अमरता का रस, 'हवि', है और वह, उस दिव्य हवि का अधिपति, देव ('हविष्म') है, ऊपर वह विशाल और दिव्य घर है, वह पराचेतन आनद और सत्य, बृहत्, है जिसमेंसे सोम रस अवरोहण करके हमारे समीप पहुचता है। आनद के रस के रूप में वह इस यज्ञ की महान् यात्रा, जो कि भौतिकता से पराचेतन की ओर मनुष्य की प्रगति है, के चारो ओर प्रवाहित हो पडता है तथा उसके अदर प्रविष्ट हो जाता है। वह धुधले आकाश, नभस अर्थात् मनोमय तत्त्व को अपने चोगे और आवरण के तौर पर धारण किये हुए इसके अदर प्रविष्ट होता है और इसे चारो ओर से घेर लेता है। हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्य, नभो वसान परि यासि अध्वरम्। दिव्य आनद हमारे पास मानसिक अनुभूति के रूपो के चमकीले धुधले आवरण को धारण किये हुए आता है।

उस यात्रा या यज्ञिय आरोहण में वह सर्वानदपूर्ण देव हमारी सब क्रियाओं का राजा बन जाता है, हमारी दिव्यीकृत प्रकृति का और उसकी शक्तियो का स्वामी हो जाता है और प्रकाशाविष्ट सचेतन हृदय को रथ बनाकर असीम तथा अमृत अवस्था की विपुल समृद्धि के अदर आरोहण कर

जाता है। सूर्य या अग्नि की तरह सहस्र जाज्वल्यमान शक्तियो से परियुत होता हुआ वह अन्त प्रेरित सत्य के, पराचेतन ज्ञान के, विशाल प्रदेशो को जीत लेता है, राजा पवित्ररथो वाजमारह महश्रमृन्जियमि श्रवो वृहत्। यह रूपक उस विजेता राजा का है जो कि शक्ति और तेज में सूर्यसदृश होता हुआ किसी विशाल राज्य पर विजय पा लेता है। यह अमरता है जिसे कि वह विशाल सत्य चेतना में, 'श्रव' में जिसपर अमृत अवस्था प्रतिष्ठित है, मनुष्य के लिये जीत लेता है। यह उसका अपना वास्तविक धाम, इत्था पदम् अस्य, है जिसे कि मनुष्य के अदर छिपा हुआ वह दव अधकार और सध्या से निकलकर उषा के प्रकाशो में से होता हुआ सौर समृद्धियो में आरोहण करके जीतता है। (देखो, मत्र पाचवा)

## वक्तव्य

### अतिम वचन

इस सूक्त के साथ मे ऋग्वेदीय 'चुने हुए सूक्तो' की इस लेखमाला को समाप्त करता हू। मेरा उद्देश्य यह रहा है कि मं ठीक ठीक उदाहरणो से वेद के रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए जितना भी सभव हो उतने सक्षेप में वैदिक देवो (देवताओ) के वास्तविक व्यापारों को, उन प्रतीको के आशय को जिनमें कि उनका विषय व्यक्त किया गया है, और यज्ञ के स्वरूप तथा यज्ञ के लक्ष्य को दिखाऊ। मने जान-बूझकर कुछ छोटे छोटे और सरल सरल सूक्त ही चुने हैं और वे उपेक्षित कर दिये हैं जो कि बडी ही विचारपरक गहराई को, विचार और रूपक की सूक्ष्मता व जटिलता को रखते है,-इसी तरह उन्हें भी छोड दिया है जिनमें कि आध्यात्मिक आशय स्पष्ट तौर से और पूर्ण रूप से उनके उपरिपृष्ठ पर ही रखा हुआ है तथा उन्हे जो कि अपनी अति ही अद्भुतता तथा गहनता के द्वारा रहस्यवादी और पवित्र कविताओ के अपने वास्तविक स्वरूप को

प्रकट करते हैं। आशा है कि ये उदाहरण पाठक को, जो कि खुले मन से इनका अध्ययन करेगा, इस हमारी प्राचीनतम और महत्तम वैदिक कविता के वास्तविक आशय को दर्शाने के लिये पर्याप्त होंगे। (अन्य अनुवादों के द्वारा, जो कि अपेक्षया अधिक सामान्य स्वरूप के होंगे, यह दिखाया जायगा कि ये विचार केवल कुछ ही ऋषियों के उच्चतम विचार नहीं हैं, किंतु ये विचार और शिक्षाएं ऋग्वेद में व्यापक रूप से पायी जाती हैं।)*

---

*यह श्रीअरविन्द का वह वक्तव्य है जो कि उन्होंने इन अध्यायों को समाप्त करते हुए लिखा है।

अंतिम वाक्य (जिसे हमने कोष्ठ में कर दिया है) में सूचित जो अनुवाद हैं उन्हें हम 'वेद-रहस्य' के तृतीय खण्ड में पाठकों को दे रहे हैं। —अनुवादक

## अनुक्रमणिका (१)

(इस ग्रंथ में आये विशिष्ट विषयों तथा उल्लेखों की)*


अगस्त्य और इन्द्र १९-२२ : २२।५
अग्नि २२।४ : संपूर्ण चौथा अध्याय : ५२।६ से ५४ : ६६।२-८ : ९७।२०,२१
अग्नि और इन्द्र (की उत्पत्ति) १३९।१-३
अग्नि और सोम ८३।१७-२१
अग्नि का घर (दिव्य जन्मस्थान) ५३।१०-२०
अग्नि का स्वरूप ५७
अग्नि की रचना ५७।२२ से ५८।९
अदिति ८७।२७ से ८८।३
अदिति (गौ) ६३।६,१८
अन्तरिक्ष (भुवः) ६८।१४-१७
'अरिः कृष्टयः' ३४।१०-२४
अर्य १०२।४-८
अर्यमा ८७।८, १६ : ८८।५,६
अश्विनौ १२४-१२७ : संपूर्ण दसवां अध्याय
अश्विनौ (दो) १२७
अश्विनौ का रथ १४०।२०-२७
आत्मोत्सर्ग (त्याग) ५४।३-१७
आनंद, ज्ञान, बल ५४।१९ से ५५।१४
आर्य (अर्य, अर्) ३३।२० से ३४।९
इडा ११९।१०-१४
इन्द्र १९।१२ : २२।१६-२४ : ३३।३-७ : संपूर्ण दूसरा अध्याय : ६६।८-१२
इन्द्र और अगस्त्य १९-२२ : २२।५
इन्द्र और अग्नि (की उत्पत्ति) १३९।१-३
इन्द्र और मरुत् २० : संपूर्ण तीसरा अध्याय
इन्द्र के घोड़े १४०।१४-१९
इन्द्र वायु ९९।१६ से १००।१५
उच्चारण और स्तोत्र ४३।२३-२६
उषा ३१।१७,१८ : संपूर्ण छठा अध्याय : ७९
उषा और रात्रि ४७।२२ से ४८।५
ऋक् ११७।३-६
ऋभुगण १३७।२६ से १३९ : संपूर्ण ग्यारहवां अध्याय


*इस अनुक्रमणिका में प्रारंभ में लिखे अंक पृष्ठों को सूचित करते हैं, । इस चिह्न के उपरांत लिखे अंक पंक्तियों को। - इस चिह्न से क्रमिक सातत्य सूचित होता है जैसे ९-१२ का अर्थ है ९, १०, ११, १२।

एकदेववाद १५८-१६० : १६१।१-४
गोतम ५१।२२-२६ : ६२।१७-२६
गौ ३१।७-१६
गौ (अदिति) ६३।६,१८
गौ (मधुर दूध देनेवाली) १४१।१-१२
घृत ९७।४-१०
घोड़े ८१।१४-१६
घोड़े (इन्द्र के) १०२।२२-२४
घोड़े (वायु के) १०२।२१,२२, २६,२७
घोड़े (सूर्य के) १०२।२४,२५
चन्द्र ८१।११-१४
चन्द्रमा और मन २९।२-१२
चमस (चतुर्वयम्) १४२।१६-२३
चार सींग ६३।७,१९,२० : ९६।८-१०,१४
चार सौर देव (मित्र, वरुण, भग, अर्यमा) ८७-८९ : १४२।१२-१५
छन्द ४३।१५,१६
ज्ञान, आनंद, बल ५४।१९ से ५५।१४
तीन उच्चतम अवस्थाएं ६३।६,१७
तीन तृप्तियां १२७।१-७
तीन पृथिवी ६८।१-३
तीन पैर ९६।१४,१५
तीन मन के लोक ६७।१५-१८
तीन 'रोचना' ६७।१८-२० : ७४।२३-२६ : ८३।८
त्याग (आत्मोत्सर्ग) ५४।३-१६
दधिक्रावा (अग्नि) ९९।१३
दधिक्रावा (अश्व) ९९।२
दिन ४६।१७,१८
दुरित ९१।२४-२७
देवतात्रयी १४८।२१, २२ : १५०।४ से १५१।१५
दो सिर ९६।१६-१७
द्यौ—स्वः ६८।१२-१४
द्विपदे चतुष्पदे ७३।१-७,२४-२६
'निदः', निन्दक ३०।२०-२७
निन्यानवे की संख्या १०४।६-२६
पणि ३०।२-१४ : १२९।८-१०
पांच लोक ६३।४,१४-१६:१५३।४-१०
पितरों (मातापिता) की फिर जवानी १४१।१३ से १४२।७
पूषा ७५।२६,२७
पृथिवी (भूः) ६८।११,१२
पृश्नि १६२।२०-२७
प्रचेताः और विचेताः ८०।८-२१
प्रज्ञा (विशुद्ध, विराट्) १९।१२ : २०।९,२६,२७ : २१।६ : २२।३
प्रज्ञा (प्रकाशमयी, दिव्य) ३१।५-७ : ३२।२५ से ३३।७ : ३३।१७
प्रज्ञान और विज्ञान ८०।८-२१
प्रभु और विभु १६३।२-१२
बल, ज्ञान, आनंद ५४।१९ से ५५।१४

बृहस्पति ११०।२०-२४ : ११२।५-१५ : संपूर्ण नवां अध्याय
ब्रह्म ४४।१-३,२१ : १११।३-७,२०,२१
ब्रह्मा ११०।२०,२१ : १११।१७-१९, २६,२७
ब्रह्मागण ११७।२-१२
ब्रह्मणस्पति ११०।२४,२५ : ११२। १५-१७ : १४९।१-५ : १६२।८-१४
भग ८७।१६ : ८८।९-११ : ८९।१०-२६ : संपूर्ण सातवां अध्याय
मंत्र; मन्म ४३।१९,२६,२७
मंत्र निर्माण ४४।४ से ४५।९
मंत्र और हृदय ४४,४५
मति (सुमति) ३२।८-१२
मधु-स्रवण ११६।८-१४ : १२५।१२-२० : १२८ : १३१।२५ से १३२।९
मन और चन्द्रमा २९।२-१२
मरुत् २०।६-१५ : २२।१ : ४०,४१ : ६६।१०-१६
मरुत् और इन्द्र २० : संपूर्ण तीसरा अध्याय
मानव पितर या दिव्य ऋषि ११३।२० से ११४।३
मित्र २१।२०-२३ : ७५।१७-२३ : ८७।१५,१६ : ८८।७-९ : ८९।३-८
मित्र वरुण ८४।४-१० : ८८।१९-२२
रयेण ११३।६-९
रात्रि और उषा ४७।२२ से ४८।५
रुद्र १४९।६ से १५०।४
रुद्र और विष्णु १४७।४ से १४८।७
रोदसी १०३।३-२७
लोक ६८।१७-२०
लोक और मानव व्यक्ति ६८।६-१०
वरुण ८७।११,१६ : ८८।४,५ : ८८। २२ से ८९।३
वरुण मित्र ८४।४-१०
वल ३०।१९,२० : ११७।१३-२४
वल और वृत्र ११७।१३-१६
वामदेव ९५।१७-२२
वायु ९८-१०० : संपूर्ण आठवां अध्याय
वायु इन्द्र ९९।१६ से १००।१५
विचेताः और प्रचेताः ८०।८-२१
विज्ञान और प्रज्ञान ८०।८-२१
विभु और प्रभु १६३।२-१२
विश्व (विराट्) शक्तियां ४५।१०-१९
विष्णु १४७।३ से १५० : संपूर्ण बारहवां अध्याय
विष्णु और रुद्र १४७।३ से १४८
विष्णु के तीन क्रमण १५२।१-१८ : १५३, १५४
वृत्र ३०।१७-१९
शब्द की शक्ति ४३
सत्य, ऋत, बृहत् ६९।१-५

सत्य-चेतना की प्रकृति ११५,११६
समुद्र (हृदय) ९७।१०-१५
समुद्र (दो) ९८।३-९
सरमा १२९।७-९
सवितुर्वरेण्य भर्गः १३०।१,२
सहस्र संख्या १०५।२०-२३
सात तत्त्व ७१।१४-१६
सात हाथ ९६।१७,१८
सुनहले ८१।१७-२० : १३१।१६, १७
सुमति ३२।७-१२
सुवित ९१।२४-२७
सूनृता ८१।८,९
सूर्य ३१।१५,१६
सूर्य (सविता) ६६।१९ : संपूर्ण पांचवां अध्याय
सूर्य की किरणें ६६।१९ से ६७।२
सूर्य की रचना ६९।६-१५
सोम २८।१५ से २९ : संपूर्ण तेरहवां अध्याय : १६१।५-२५
सोम और अग्नि ८३।१७-२१
सौ की संख्या १०४।११-१३ : १०५।१,२,८
स्तुभ् ११७।४-९
स्तोत्र और उच्चारण ४३।२३-२६
'स्तोम' ४३।५,६,२५,२६
स्वः १९।१२-१४ : १२९।२४,२५ : १६५।८-१४
स्वराज्यम् ९०।२६ से ९१।२
हंसों की उड़ान १३१।३-२४
होनोथीज्म १५८।९-२२
हृदय ४४।१४-२४
हृदय और मन ४४,४५

# अनुक्रमणिका (२)

(इस ग्रंथ में उल्लिखित वैदिक मन्त्रों तथा मन्त्रांशों की)*


अ

अच्छा वो देवीमुषस ३ ६१.५ (७८)
अथा ते अतमाना १.४.३ (२३)
अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो ४.८.११ (१५०)
अद्या नो देव सवित ५ ८२.४ (८५)
अधारयन्त वह्नयो १.२० ८ (१३७)
अनागसो अदितये ५ ८२.६ (८६)
अनुकृष्णे वसुधिती ४.४८.३ (९४)
अप्रकेत सलिल १०.१२९.३(१११)
अप्रतीतो जयति ४.५०.९ (१०९)
अय देवाय जन्मने १.२०.१ (१३६)
अरुरुचदुषस पृश्नि० ९ ८३.३ (१५६)
अर कृण्वन्तु वेदि १.१७०.४ (१७)
अव स्पृधि पितर ५.३.९ (१६१)
अव स्यूमेव चिन्वती ३.६१.४ (७८)
अस्मादह तविषा० १.१७१.४ (३७)
अस्य पीत्वा शत० १.४.८ (२५)
अस्य हि स्वयशस्तर ५.८२.२ (८५)
अहमग्न,अप्रमदन्त०तं० ३.१० ६(५४)

आ

आकेनिपासो अहभि० ४.४५.६(१२३)
आ विश्वदेव सत्पतिम् ५.८२ ७ (८६)
आ यद् दुवस्याद् १.१६५.१४(३९)

इ

इन्द्रश्च सोम पिवत ४.५०.१०(१०९)
इह प्रजामिह रयि ४.३६.९(१४४)
इन्द्रस्य युज्य सखा १.२२ १९ (१५०)

उ

उत स्य चमस १.२०.६ (१३७)
उत म सुभगाँ १.४.६ (२४)
उत ब्रुवन्तु नो १.४.५ (२४)
उत यासि सवितस्त्रीणि ५.८१.४(६५)


*इस अनुक्रमणिका में मन्त्रो के आगे लिखे तीन अक क्रमश मण्डल, सूक्त और मन्त्र को सूचित करते हैं और उसके आगे कोष्ठ में लिखी सख्या इस पुस्तक के पृष्ठ को सूचित करती है।

उतेशिषे प्रसवस्य ५.८१.५ (६५) उषः प्रतीची भुवनानि ३.६१.३ (७७)
उद् वां पृक्षासो ४.४५.२ (१२२) उषो देव्यमर्त्या ३.६१.२ (७७)
उप नः सवना १.४.२ (२३) उषो वाजेन वाजिनि ३.६१.१ (७७)

ऋ

ऋतस्य बुघ्न उषसा० ३.६१.७ (७९) ऋतावरी दिवो अर्कै० ३.६१.६ (७८)

ए

एकं सद् विप्रा० १.१६४.४६ (१५६) एवा पित्रे विश्व० ४.५०.६ (१०८)
एता अर्षन्ति हृद्यात् ४.५८.५ (९७) एष वः स्तोमो १.१७१.२ (३६)
एमाशुमाशवे भर १.४.७ (२४) एष स्य भानुरुदियर्ति ४.४५.१ (१२२)
एवाग्निर्गोतमेभि० १.७७.५ (५१)

क

कथा दाशेमाग्नये १.७७.१ (५०) किं नो भ्रातरगस्त्य १.१७०.३ (१७)
किं न इन्द्र १.१७०.२ (१७) को ह्येवान्यात् कः तं० २.७ (२९)

ग

गन्धर्व इत्था पदमस्य ९.८३.४ (१५७) गूहता गुह्यं तमो १.८६.१० (४०)

च

चतुः शृङ्गोऽवमीद् गौर० ४.५८.२ (९६) चत्वारि शृङ्गा त्रयो ४.५८.३ (९७)

त

तं त्वा वाजेषु १.४.९ (२५) तव श्रिये मरुतो ५.३.३ (१६०)
तक्षन् नासत्याभ्या १.२०.३ (१३६) ता वां वास्तू० १.१५४.६ (१४६)
तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो ३.६२.१० (१३०) तुच्छ्येनाभ्वपिहितम् १०.१२९.३ (१११)
तत् सवितुर्वृणीमहे ५.८२.१ (८५)
तदस्य प्रियमभि १.१५४.५ (१४६) ते नो रत्नानि १.२०.७ (१३७)
तद् विष्णोः परमं पदं १.२२.२० (१५०) त्रिधा हितं पणिभि० ४.५८.४ (९७)
तपोष्पवित्रं वितत ९.८३.२ (१५६) त्वं पाहीन्द्र सहीयसो १.१७१.६ (३८)
तमः तमसा गूहम् १०.१२९.३ (१११) त्वमग्ने वरुणो जायसे ५.३.१ (१६०)
तव श्रिया सुदृशो ५.३.४ (१६०) त्वमर्यमा भवसि यत् ५.३.२ (१६०)

त्वमीशिषे वसुपते १.१७०.५ (१८)

घ

घृतेनयः सुप्रकेत ४.५०.२ (१०७)

न

न नूनमस्ति १.१७०.१ (१७)
निर्युवाणो अशस्तीः० ४.४८.२ (९४)

प

परेहि विग्रमस्तृत० १.४.४ (२३)
प्र वामवोचमश्विना ४.४५.७ (१२४)
पवित्र ते विततं ९.८३.१ (१५६)
प्र विष्णवे शूषमेतु १.१५४.३(१४५)
प्र तद् विष्णुः १.१५४.२(१४५)
प्राणं देवा अनुप्राणन्ति तै० २.३ (५४)
प्रति व एना १.१७१.१ (३६)

ब

बृहस्पत इन्द्र वर्धतं ४.५०.११ (११०)
बृहस्पते या परमा ४.५०.३ (१०७)
बृहस्पतिः प्रथम ४.५०.४ (१०८)

म

मध्य. पिबत ४.४५.३ (१२२)
...मन्मानि चित्रा १.१६५.१३(३९)
मनसश्चन्द्रमाः ऐत० १.२ (२९)
...महद् विजज्ञे ३.५५.१ (१५९)

य

य इन्द्राय वचोयुजा १.२०.२(१३६)
युञ्जते मन उत ५.८१.१ (६४)
य इमा विश्वा जाता० ५.८२.९ (८६)
युवाना पितरा पुन. १.२०.४(१३६)
य इमे उभे अहनी ५.८२.८ (८६)
यूयं तत्सत्यशवस० १.८६.९ (४०)
यत्र अमृतास आसते ९.१५.२ (१२९)
यूयमस्मभ्यं धिषणा० ३.६.८ (१४४)
यस्तस्तम्भ सहसा ४.५०.१ (१०७)
येन मानासश्चितयन्त० १.१७१.५(३७)
यस्य त्री पूर्णा १.१५४.४(१४६)
यो अध्वरेषु शंतम० १.७७ २ (५०)
यस्य प्रयाणमन्वन्य० ५.८१.३ (६४)
यो रायो वनिर्महान् १.४.१० (२५)

व

वहन्तु त्वा मनोयुजो ४.४८.४ (९४)
विश्वानि देव सवित० ५.८८.५ (८६)
वायो शतं हरीणा ४.४८.५ (९५)
विश्वा रूपाणि प्रति ५.८१.२ (६४)

विष्णोर्नु कं वीर्याणि १.१५४.१ (१४५) विहि होत्रा अवीता ४.४८.१ (९४)

श

शवीरया धिया १.३.२ (१३२) श्रेष्ठं वः पेशो अधि ४.३६.७ (१४३)

स

सं वो मदासो १.२०.५ (१३७) स सुष्टुभा स ऋक्वता ४.५०.५ (१०८)

स इत् क्षेति सुधित० ४.५०.८ (१०९) स हि क्रतुः स मर्यः १.७७.३ (५०)

स इद् राजा प्रति ४.५०.७ (१०९) स हि रत्नानि दाशुषे ५.८२.३ (८५)

स नो नृणां नृतमो १.७७.४ (५१) सिन्धोरिव प्राध्वने ४.५८.७ (९८)

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ ४.५८.१ (९६) सुरूपकृत्नुमूतये १.४.१ (२३)

सम्यक् स्रवन्ति सरितो ४.५८.६ (९८) स्सुतासो नो मरुतो १.१७१.३ (३७)

स वाज्यर्वा स ऋषि० ४.३६.६ (१४३) स्वध्वरासो मधुमन्तो ४.४५.५ (१२३)

ह

हंसासो ये वां मधुमन्तो ४.४५.४ (१२३) हविर्हविष्मो महि ९.८३.५ (१५७)